कर्मों के परिणाम

प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी



कर्मों के परिणाम

लेखक

प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी

प्रभारी

शङ्कराचार्य नगर, नेशनल हाईवे नं. 8

पो. रघवाणज, तह. मातर, जि. नडियाद 387570 गुजरात

दूरभाष - 02694 - 289638

प्रकाशक

शङ्कराचार्य नगर भक्त मंडल

पो. रघवाणज, तह. मातर,

जि. नडियाद 387570 गुजरात

कर्मों के परिणाम

लेखक

प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी

सम्पादक

सरला पाण्डेय

प्रकाशक

श्री शङ्कराचार्य भक्त मंडल

शङ्कराचार्य नगर, नेशनल हाईवे नं. 8

पो. रघवाणज तह. मातर, जि. नडियाद 387570 गुजरात

दूरभाष - 02694 - 289638

मूल्य 75 रूपये मात्र

मुद्रक - **श्रीमाता कम्प्यूसिस प्रा. लि.**

बी.4/60, हनुमानघाट, वाराणसी-221001

दूरभाष : 0542-2275272



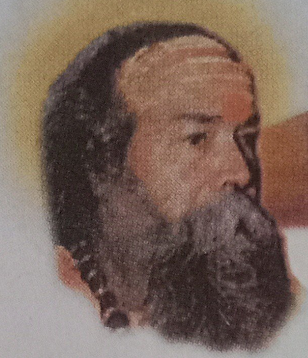
अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं द्वारकाशारदापीठाधीश्वर

जगद्गुरु शङ्कराचार्य

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

के चरणों में श्रद्धया समर्पित

पू. महाराज श्री का आशीर्वचन



अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर

श्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

ज्योतिर्मठ (बदरिकाश्रम) हिमालय

वर्तमान यात्रा स्थान ....

पत्रांक ....

दिनांक ....

शुभाशंसा

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' कहकर कर्म की महनीयता तथा उसकी दिव्यता का संकेत दिया है। भगवत्पथानुगामी व्यक्तियों का कर्म भी ऐसा दिव्य होना चाहिए जिससे इस लोक में उनकी कीर्ति पताका लहराती रहे तथा उस कर्म पथ का अनुगामी होने के कारण उनकी पारलौकिकता की दिव्यता भी बनी रहे। ऐसा तभी सम्भव है जब व्यक्ति वेदशास्त्रानुमोदित कर्मों का कर्मी बन कर अपनी भूमिका का संवहन करे। महापुरुषों का सान्निध्य, उनके सदुपदेश तथा धार्मिक ग्रन्थों के प्रणयन से सत्कर्म की प्रेरणा व्यक्ति को मिलती है।

संस्कृत भाषा में दिव्य कर्म पथ के संकेतक अनेक ग्रन्थ हैं। परन्तु सहज हिन्दी भाषा में एक ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ की आवश्यकता थी जिसके आलोड़न से सर्वसामान्य व्यक्ति को दिव्य कर्मों का ज्ञान हो सके। क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, त्रुटि होने पर संक्षिप्त प्रायश्चित क्या हैं, इनका ज्ञान सरलता पूर्वक ब्रह्मचारी प्रकाशानन्द द्वारा विरचित ग्रन्थ 'परिणाम' कराता है। यह ग्रन्थ सनातनधर्मी जगत को वेदशास्त्रानुमोदित पथ का सहज पथिक बनाता है, आध्यात्मिक घनीभूतता का सृजन हो तथा मंगल पथ पर लोक चलता रहे यही हमारा इस सन्दर्भ में मंगलाशीष है। श्री:

अध्यात्म विद्या निकेतन
परमहंसी गंगा क्षेत्र, श्रीधाम
पोस्ट - झोतेश्वर,
जिला - नरसिंहपुर - ४८७११८ (म.प्र.)
दूरभाष : ०७७९४ - ८१२०१ - ८१२०१

शंकराचार्य आश्रम
तोटकाचार्य गुफा
स्थान व पोस्ट - जोशीमठ
जिला - चमोली, गढ़वाल (उ.प्र.)
दूरभाष : ०१३८९ - २२१८५

शंकराचार्य मठ
टैक्सी स्टैण्ड के पास
बद्रीनाथ धाम, हिमालय
जिला - सिंहभूमि (बिहार)
दूरभाष : ०१३८ - २२२५

विश्व कल्याण आश्रम
काली कोकिला संगम क्षेत्र
पोस्ट - राज आनन्दपुर
पिन कोड - ८३३१०४



शङ्कराचार्य नगर स्थित शिवलिङ्गाकार शिवमन्दिर तथा द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग मन्दिर



पुण्यात्माओं के लिये धर्मराज

नान्दीवाक्

भारतीय सनातन धर्म ने अपनी देशनाओं से न केवल भारतीयों को अपितु समूची मानवजाति को उपकृत किया है । इन धार्मिक देशनाओं की पुष्टि दार्शनिक चिन्तन-प्रसूत चूड़ान्त-सिद्धान्तों से होती है । इन्हीं सिद्धान्तों में एक सार्वजनीन सिद्धान्त है - कर्मवाद । औपनिषदिक चिन्तन, श्रीमद्भगवद्गीता एवं कर्मसिद्धान्त पोषक वेदान्तादि दर्शनों में विश्वसनीय ढंग से यही यत्न समझाया गया है कि जीव के पुनर्जन्म का एकमात्र कारण उसका अपना कर्मविपाक मात्र है । मनुष्य अपने ही पूर्वजन्माचरित अच्छे-बुरे कर्मों का फल, वर्तमान जन्म में पाता है । यदि कर्म की जड़ें इतनी प्राक्तन एवं गहरी न होतीं तो मनुष्य को अपने प्रत्येक अच्छे-बुरे कर्म का तत्क्षण अच्छा-बुरा परिणाम मिलना चाहिए था । परन्तु यह स्थापित सत्य हमारे जीवन में विलक्षण रीति से घटता है । कभी अच्छा कर्म करते हुए भी हमें अवसाद मिलता है तो कभी पापाचार करते हुए भी आनन्द ही आनन्द ।

इस अनहोनी का समुचित समाधान हमें कर्मसिद्धान्त ही दे पाता है । क्योंकि उन परिस्थितियों में हम पूर्वजन्म के अच्छे या बुरे कर्मों का फल भोग रहे होते हैं । बहरहाल, यह तो पत्थर की लीक के समान सत्य है कि हमें अपने कर्मफलों को भोगना ही होगा ।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ।

-श्रीमद्भगवद्गीता

सम्मान्य श्री प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी जी द्वारा प्रणीत लघुकलेवर ग्रन्थ ''कर्मों के परिणाम'' को पढ़कर कर्मविपाक का रहस्य समझ में आ जाता है । श्री ब्रह्मचारी जी ने पुराणों का आश्रय लेकर दुष्कर्म सम्बन्धी जो दण्डविधान वर्णित किया है उससे मन में बरबस धर्मभीरुता का भाव जगता है और सत्कर्म-सदाचार की प्रेरणा प्राप्त होती है ।

मेरी हार्दिक शुभाशंसा है कि इस सद्ग्रन्थ का जन-जन में प्रचार हो ताकि हमारा भावी जीवन मंगलमय हो ।

अभिराजराजेन्द्र मिश्र

(अभिराजराजेन्द्र मिश्र)
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी - 221002

शुभाशंसा

लोकेऽस्मिन् कर्मणामेव परिणामः परिस्फुरन् ।
उन्नतावनताधस्तादुद्भवत्फलहेतुकः ॥

श्री प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी द्वारा प्रणीत 'कर्मों के परिणाम' नामक लघुकलेवर किन्तु गुणाग्रेसर ग्रन्थ का यथास्थान अवलोकन किया । इस ग्रन्थ में श्री ब्रह्मचारी जी ने चाकचिक्यचमत्कृत संसृतितृष्णातरङ्गित व्यामोहपाशनिगडित सांसारिक जन के मन का जागरण, उद्बोधन और परिष्करण करने का यत्नोपक्रम किया है ।

'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्-'

इस गीतोक्त भगवदुक्ति के अनुसार कर्मप्रधान विश्व में निरन्तर अहर्निश कर्मनिरत मानव को उसके परिणाम के प्रति सचेष्ट करने में इस पुस्तक की श्लाघनीय भूमिका है, ऐसा सोच कर यदि लोक मानस का आवर्जन हो तो अवश्य ही लोक का कल्याण होगा ।

अविश्वास के गर्त में गिरा अद्यतन समाज कर्माकर्म विवेक से प्रायः वंचित है । **'कार्यं मे सफलं भूयात् येन केनापि कर्मणा'** इसी नीति से सत्कर्म और असत्कर्म का बिना विचार किए, शास्त्रपुराणादि प्रतिपादित सन्मार्ग को त्याग कर आधुनिक समाज की कर्ममार्ग में वृत्ति और प्रवृत्ति हो रही है, जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र और विश्व भी विपद्ग्रस्त, विध्वस्त और त्रस्त है । ऐसी स्थिति में यदि इस ग्रन्थ के द्वारा कुछ भी प्रकाश मिल सका तो अवश्य ही मानवीय श्रेयःपथ प्रशस्त होगा।

श्री प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी निश्चित रूप से अपने नाम-गुण के अनुरूप इस निजकृत ग्रन्थ के कर्म-परिणाम द्वारा लोगों में प्रकाश प्रसूत आनन्द की ज्योति जगाने में सफल होंगे, यह मेरी शुभाशंसा है । **श्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज** की शुभाशीराशि इस ग्रन्थ और लेखक को प्राप्त है, यह और भी इसकी प्रशस्ति का साधक है।

(शिवजी उपाध्याय)
पूर्व विभागाध्यक्ष, पूर्व प्रतिकुलपति
साहित्य संगीत कला विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी - 221002

पुरोवाक्

कर्मों का महत्त्व एवं उसकी अनिवार्यता श्रुति,. स्मृति एवं पुराणेतिहास ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से वर्णित है । '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**' यह उपनिषद् वचन '**नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् , नियतं कुरु कर्मत्वं**' इत्यादि गीतावचन तथा इनके अतिरिक्त समस्त पुराण एवं इतिहास ग्रन्थ ज्ञान के साथ-साथ विविध अवतारों, ऋषि-मुनियों, सम्राटों एवं सामान्यजन कृत विविध कर्मों की चर्चा से भरा है । **रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्** यह अवबोध उन विविध कर्मों की चर्चा से ही हो पाता है । इनमें वर्णित समस्त प्रसंगों से कर्म की महत्ता स्पष्ट है ।

कर्म की अनिवार्यता उसके फल अभ्युदय एवं निःश्रेयस की दृष्टि से है । क्योंकि मानव जीवन का अभीष्ट लौकिक अभ्युदय एवं पारमार्थिक निःश्रेयस की प्राप्ति कर्म के बिना कथमपि संभव नहीं है । अतः उभयविध फलप्राप्ति हेतु नियत कर्म की कर्तव्यता निश्चित है - **नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः** । यह कर्म की अनिवार्यता फल की दृष्टि से है । दूसरी अनिवार्यता क्रर्म की दृष्टि से फल की है अर्थात् जैसे शास्त्रविहित नियत कर्म से अभ्युदय एवं निःश्रेयस फल की प्राप्ति अनिवार्य है, वैसे ही शास्त्रनिषिद्ध कर्म और फल का उभयविध अनिवार्य सम्बन्ध है। **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्** यह कर्मसम्बन्धी सामान्य वचन है ।

समाज में कर्म के सम्बन्ध में दो धारायें देखी जाती हैं - जैसे जीवन काल में वैसे मरणोत्तर भी कर्मफल की अनिवार्यता मानने वाले आस्तिकों की एक धारा, जिनमें जैन बौद्ध भी समाविष्ट हैं । दूसरी धारा कि मृत्यूपरान्त भी कोई कर्मफल प्राप्त होता है - यह सर्वथा अविश्वसनीय है । यह धारणा वर्तमान समय में अमर्यादित विचार वालों की है । यह धारणा भारतवर्ष में कम किन्तु अन्यत्र प्रायः है । फिर भी बाहरी आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से यह धारणा बढ़ती जा रही है । यह नास्तिक विचारधारा कही जा सकती है । ये द्विविध धारणायें जन्मान्तर सिद्धान्त मानने और न मानने के कारण बनी हैं । इसी आधार पर सत्कर्म और असत्कर्म की प्रवृत्ति बनती है । इसीलिए दूसरी प्रवृत्ति का समाज सर्वथा निर्भय होकर वर्तमान जीवन में संभावित अभीष्ट फल से बचने के लिए और भी अकार्य करता है। इस प्रकार असत्कर्म की परम्परा बढ़ती ही जाती है ।

जन्मान्तर में कर्मफल का पक्षधर न होने वाले कुछ सुशिक्षित व्यक्ति इसलिए सत्कर्म करते हैं कि वर्तमान शरीर के अन्त तक ही यद्यपि मेरा अस्तित्त्व है, फिर भी इसके उपरान्त इतिहास में उनका सम्मानपूर्ण स्थान बना रहे । किन्तु इस दृष्टि का महत्त्व भी अल्पतम है ।

एवं, दिन-रात की तरह जन्म और मृत्यु का क्रम अपरिहार्य है, तथा जन्मान्तर में स्वकृत कर्म का फल स्वयं को मिलता है और अवश्य मिलता है, यह तर्कों एवं प्रत्यक्ष दृष्टान्तों से भी सिद्ध हो चुका है । अतः यह निश्चित है कि जन्मान्तरीय कर्मफल पर अविश्वास करना न लोकहित में,न समाज हित में और न अपने हित में है । इसी स्थिति

पर पूर्ण विचार कर **कर्मों के परिणाम** नामक इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक श्री प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी जी महानुभाव ने युक्तिपूर्ण विस्तार के साथ इसके द्वारा वर्तमान युगीन मानव समाज को उद्बुद्ध किया है ,एवं प्राक्तन आचार्यों की तरह इस तरह का कार्य अत्यन्त श्लाघनीय है ।

यह कर्मफल का सिद्धान्त हमें उसके दाता ईश्वर तक पहुँचाता है । क्योंकि लोक में भी हम कर्म भर करते हैं, फल तो स्वामी ही प्रदान करता है । चाहे राजकीय सेवा हो, संस्थागत सेवा हो अथवा कृष्यादि कर्म हो । इस आधार पर फलदाता जगत् का अधिष्ठाता ईश्वर को स्वीकार करना ही पड़ता है । इस प्रकार कर्म और उसके परिणाम का सिद्धान्त भारतीय दर्शन का वह केन्द्रीभूत सिद्धान्त है जिसके आधार पर जन्मान्तरवाद, परलोक की मान्यता, कर्मजन्य धर्माधर्म रूप अदृष्ट की मान्यता तथा जगन्नायक ईश्वर की मान्यता स्वतः अनिवार्य हो जाती है । इसलिए **कर्मण्येवाधिकारस्ते** वचन के अनुसार हमें कर्म करना ही हैं । साथ ही उसके सुपरिणाम के लिए सत्कर्म ही करना है । यह सत्कर्म (धर्म) क्या है ? इसे जानने के लिए श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण एवं शिष्टाचार तथा गुरु का उपदेश ही साधक है । जैसा कि जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी महाराज ने शास्त्रों के निष्कर्ष रूप में **रोटी जलने न पाये** अपनी इस वाणी से हमें संकेत किया है । इस प्रसंग में निम्नोक्त उक्तियाँ भी सदा ध्यातव्य हैं -

उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातम्,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेः,
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥1॥
अल्पाहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यम्,
कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम् ।
प्राणाः सन्धार्यास्तत्त्व-जिज्ञासनार्थम्,
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥2॥

वर्तमान युग के वैज्ञानिक वातावरण में समाज को सावधान करने की दृष्टि से सम्माननीय श्री प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी जी की प्रस्तुत रोटी जलने न पाये शीर्षक से प्रारब्ध एवं कल्याण पथ शीर्षक से एकादश अध्यायों में पूर्ण **कर्मों के परिणाम** नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यह कृति है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है । इसके लिए वर्तमान जिज्ञासु समाज श्री ब्रह्मचारी जी का अत्यन्त कृतज्ञ है । मैं इस विश्वास के साथ कि श्री ब्रह्मचारी जी द्वारा इस तरह के ग्रन्थरत्न भविष्य में भी प्रकाशित होते रहेंगे, सम्माननीय श्री ब्रह्मचारी जी का सानन्द अभिनन्दन करता हूँ ।

इति शम् ।

(डॉ. केदारनाथ त्रिपाठी)
वाचस्पति (डी. लिट्.)
अध्यक्ष
काशी विद्वत् परिषद्, काशी

पौषी अमावस्या 2060वि.
दिनाङ्क 23-12-2003

प्रस्तावना

वर्तमान युग में वैज्ञानिक प्रभावों, आधुनिक शिक्षा एवं संस्कारादि के कारण मनुष्य स्वतन्त्र बुद्धि का आश्रय लेकर मनमाना आचरण व व्यवहार कर रहा है जिसके परिणाम स्वरूप लोक-परलोक में विविध यातनाएँ भोग रहा है । अतः कहा जाता है कि मनुष्य अपने किये कर्मों का फल भोग रहा है ।

लोक में प्रायः दो प्रकार के मनुष्य देखे जाते हैं । एक तो वे जो आस्तिक विचारधारा से सम्बन्धित तथा दूसरे वे जो नास्तिक विचारधारा से सम्बन्धित होते हैं । दोनों ही प्रकार के मनुष्य कर्मों का फल भोगते व अनुभव करते हुए अपने स्वभाव के अनुसार अपने आप को एक दूसरे से भिन्न रूप में समझते व मानते हैं । यथा - आस्तिक स्वभाव वाले मनुष्य अपनी विचारणा के अनुसार यह मानते हैं कि हम जो कुछ भी व्यवहार कर रहे हैं उसको देखने वाला कोई ईश्वर अवश्य है जो कृतकर्मों का फल देता है । अतः ऐसा मानकर वे अपने मन, इन्द्रियों पर संयम रखकर उचित-अनुचित विचार के साथ शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म एवं पुण्यकर्म करते रहते हैं जिससे उन्हें लोक-परलोक में सद्गति प्राप्त होती है, किन्तु न चाहते हुए भी बलात् विविध कारणों जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि संस्कार स्वभावजन्य भावों के आवेग में उनसे (धार्मिक आस्था वालों से) शारत्र-अविहित निषिद्ध कर्म ज्ञान-अज्ञात में अथवा भूल से हो जाते हैं जिसका उन्हें खेद, अफसोस अथवा पश्चात्ताप होता है । ऐसे पुरुषों के लिए धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित्त कर्मों का विधान किया गया है । वे पश्चात्तापपूर्वक विहित प्रायश्चित्त कर्म करके शुद्ध हो सकते हैं तथा परलोक की दुःखद यातनाओं से बच सकते हैं । इसके विपरीत वे दूसरे जो नास्तिक स्वभाव वाले एवं क्रूर कर्मों की

प्रवृत्ति में संलग्न (मनुष्य) हैं, वे अपनी विचारधारा के अनुसार यह मानकर व्यवहार व आचरण करते हैं कि इस संसार अर्थात् सृष्टि में जो दिख रहा है, बस इतना ही है, इसके आगे कुछ नहीं है। अतः वे लोक, परलोक, ईश्वरीय सत्ता, राजभय, लोकनिन्दा आदि की परवाह किये बिना उच्छृङ्खलतापूर्वक प्रमादवश निजी स्वार्थ के वशीभूत होकर विविध अविवेकपूर्ण शास्त्र-अविहित निषिद्ध कर्मों को करते रहते हैं। अहर्निश शास्त्र-अविहित निषिद्ध कर्मों में तत्परता से संलग्न रहने के कारण उनके मन में कृत कर्मों के विषय में उचित-अनुचित के विचार का अवसर ही नहीं रहता। निन्दित कर्मों को करने का स्वभाव बन जाने के कारण उन्हें खेद, अफसोस या पश्चात्ताप कुछ भी नहीं होता। परिणामस्वरूप ऐसे मनुष्यों के द्वारा प्रायश्चित्त कर्म भी नहीं होते। प्रायश्चित्त रहित होने से ये लोग लोक-परलोक में भयङ्कर असहनीय यातनाओं को भोगते हैं। राजदण्ड यथा जेल यातना आदि को भोगकर वे और भी अधिक उद्दण्ड व उच्छृङ्खल हो जाते हैं।

सुशिक्षित कहे जाने वाले श्रेष्ठ स्तर के व्यक्तियों द्वारा भी राजमद या किसी आवेग के कारण अथवा प्रमादवश भष्टाचार-अत्याचार आदि अनेक अनीति व अन्यायपूर्ण निषिद्ध आचरण होते देखे व सुने जाते हैं। मनुष्य जिन आचरण-व्यवहार को स्वयं के लिए उचित नहीं मानता वह आचरण-व्यवहार वह दूसरों के लिए करता चला आ रहा है।

विविध कर्मों के विविध परिणाम होते हैं, जो विविध रोगों, अभावों, दुःख-व्यथाओं, यातनाओं आदि के रूप में प्राणी को लोक-लोकान्तरों में भोगने पड़ते हैं। इन समस्त बातों का स्मरण कराकर मनुष्य को धर्मपथ की ओर मोड़ने के लिए, कर्मों के विषय में सम्यक् जानकारी देने के लिए कर्मों की गहन गतियों का विवेचन करके प्राणी में गति-अगति तथा लोक-परलोक आदि का विचार

उत्पन्न करने के उद्देश्य से, समस्त ब्रह्माण्डों के नियामक परब्रह्म परमात्मा की ईश्वरीय सत्ता का स्मरण कराने के लिए, धर्मपथ से विमुख मनुष्यों को कल्याणपथ (धर्मपथ) दिखलाने के लिये कर्म-विपाक (परिणाम) से सम्बन्धित शास्त्रानुमोदित अर्थात् शास्त्रसम्मत और विहित कर्म करने के लिए प्रेरणाप्रद तथा निन्दित कर्मों से रोकने के लिए एवं प्रेरणा देने वाली इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा मुझे पूज्य महाराजश्री से मिली। पूज्य श्रीचरण के प्रेरणाजन्य आशीर्वाद से यह "कर्मों का परिणाम" शीर्षक पुस्तक आप सबके समक्ष प्रस्तुत हो सकी है।

मनुष्य को अपने किये का खेद अथवा पश्चात्ताप ही करते नहीं रहना चाहिए अपितु पश्चात्तापपूर्वक भगवन्नामादि स्मरण एवं प्रायश्चित्त कर्म करके शुभ कर्म करते हुए धर्मपथ पर अग्रसर होते रहना चाहिए। "जब से जागा, तब से सबेरा" इस उक्ति को मानकर "रोटी जली सो जली, पर अब न जलने पाये" इसका निश्चय कर ले और आगे कोई अनर्थकारी-अशुभ कर्म न करे।

इस छोटी सी "कर्मों के परिणाम" शीर्षक पुस्तक के पढ़ने-समझने की सुविधा की दृष्टि से इसमें ग्यारह अध्यायों का समावेश किया गया है। प्रथम अध्याय में "रोटी न जलने पाये" शीर्षक पूज्य महाराजश्री का दिया हुआ है, जिसमें कर्म न बिगड़ने पाये भाव का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में कर्मों के परिणाम के विषय में विचार प्रस्तुत किये गये हैं ताकि मनुष्य कर्म करने से पूर्व विचार करे फिर कर्म करे। तृतीय अध्याय में "कर्म क्या है ?", क्रिया को ही कर्म के रूप में क्यों माना जाता है ? इसका श्लेष भाव के साथ निरूपण किया गया है ताकि कर्म में लगे रहने के विषय का सम्यक् ज्ञान हो सके। चतुर्थ अध्याय में कर्मों के प्रकार के अन्तर्गत विविध नाम से व्यवहृत किये जाने वाले कर्मों के नाम बतलाकर सभी के लिए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के भाव से विहित-अविहित कर्मों का शास्त्र-

सम्मत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । पाँचवें अध्याय में समस्त प्रकार के कर्मों के परणामों का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुए कर्मों की गहन गति का निरूपण किया गया है । छठवें अध्याय में पुराणों में वर्णित नरक यातनाओं का यथार्थ वर्णन किया गया है। सातवें अध्याय में 'कर्मों की श्रृङ्खला ही जीव भाव का कारण है' ऐसा कहकर जन्म-मरण के चक्र को स्पष्ट करते हुए जीव के अविनाशित्व को बतलाया गया है । आठवें अध्याय में जीव की गति-अगति का उल्लेख करते हुए उसे धर्मपथ की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से गतियों का विस्तृत वर्णन किया गया है । इस प्रकार जब मनुष्य गति-अगति को जानकर सद्गति की इच्छा करता है, तब उसे अपने (अशुभ कृत कर्मों) किये पर पश्चात्ताप होता है । अतः प्रायश्चित्त की आवश्यकता को ध्यान में रखकर अगले नवम अध्याय में प्रायश्चित्त कर्मों का सम्यक् विवेचन किया गया है । लोक-परलोक व ईश्वर का अस्तित्व है इस बात पर दृढ़ विश्वास लाने के लिए दसवाँ अध्याय लोक-परलोक के नाम से लिखा गया है । अन्त में धर्मशास्त्रों में परम्परा से वर्णित सनातन धर्म को ही प्राणी के कल्याण का मार्ग बतलाया गया है, जो कि मानव जीवन का लक्ष्य है । इसलिए ग्यारवें अध्याय का नाम 'कल्याण-पथ' रखा गया है ।

मनुष्य शरीर में मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ हैं । दस इन्द्रियों के ऊपर ग्यारहवाँ मन है, जिसको वश में रखकर भगवन्नाम स्मरण व स्वधर्म पालन करके मनुष्य परमगति को प्राप्त कर सकता है । इसी भाव से पुस्तक में ग्यारह अध्याय रखे गये हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक में अपने विचारों एवं शास्त्र-सम्मत सिद्धान्तों को सप्रमाण समझाने के लिए विविध ग्रन्थों यथा - कर्म विपाक से सम्बन्धित मदनमहार्णव, श्रीमद्भागवत, कूर्म, मत्स्य, विष्णु, अग्नि, भविष्य और गरुड़ आदि पुराण, गीता, रामायण, महाभारत शास्त्र

सम्मत लोकवाणी (लोकोक्ति), उपनिषदों में छन्दोग्योपनिषद्, महानारायणोपनिषद्, ईशावास्योपनिषद, वेदशास्त्र, योगशास्त्र एवं वाणी पुस्तक माला, काशी से प्रकाशित परलोक तत्त्व और धर्म प्रवेशिका तथा विष्णु महाराज घाट विठूर से प्रकाशित अध्यात्म विचार आदि का आश्रय लेकर वर्णनानुसार तद्विषयक अंशों को यथास्थान उद्धृत किया गया है जैसे कि महापातकों व उपपातकों से होने वाले रोगों का वर्णन मदनमहार्णव से, पातक-उपपातक एवं महापातकों का वर्णन तथा प्रायश्चित्त प्रकरण को भविष्य, मत्स्य, कूर्म और अग्नि पुराण व कर्म विपाक से । इसी प्रकार नरक यातना, नरक लोक का वर्णन श्रीमद्भागवत, गरुड़पुराण एवं महाभारत आदि से किया गया है । गतियों का वर्णन छान्दोग्योपनिषद, गीता आदि किया गया है ।

इन सबसे अधिक प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं द्वारका शारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज के प्रवचन-उपदेशों से अनेक भाव अंशों को लेकर कर्म एवं कर्म के परिणाम आदि का सम्यक् विवेचन कर कल्याण पथ का वर्णन किया गया है । जिस कारण पुस्तक पूज्य महाराजश्री के आशीर्वाद से तथा उनके विचारों के अनुरूप एवं शास्त्रीय प्रमाणयुक्त निर्मित हो सकी है । अतः सर्व प्रेरक उन श्रीचरणों में शत-शत नमन ।

यह पुस्तक सभी मनुष्यों के लिए प्रेरणाप्रद एवं कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाली हो सके ऐसी भाव कुसुमाञ्जलि के साथ शिवस्वरूप भगवान् श्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी महाराज जो कि हमारे श्रीगुरु हैं । उनके श्रीचरणों में यह "कर्मों के परिणाम" नामक प्रथम फल अर्पित है। पुनः कोटि-कोटि नमन के साथ ।

पूज्यश्री का 80 वाँ जन्मोत्सव
हरितालिका 2060 वि.
वाराणसी

श्रीगुरुचरणकमलभ्रमर
प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी

भूमिका

परि उपसर्ग पूर्वक नम् धातु से घञ् प्रत्यय करने से **परिणाम** शब्द की निष्पत्ति होती है । उपसर्ग का विकल्प से दीर्घ होने पर **परीणाम** शब्द भी बनता है । अमरकोश के अनुसार ''परिणामो विकारो द्वे समे विकृति विक्रिये'' कहकर इसी अर्थ को कहने वाले दो पुल्लिंग शब्द परिणाम और विकार तथा दो स्त्रीलिंग शब्द विकृति और विक्रिया बताया गया है ।

शास्त्रों में परिणाम शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है जिनमें बदलना, परिवर्तन, रूपान्तरण, परिपाक, नतीजा, निष्पत्ति, फल, प्रभाव, विकास, अन्त, समाप्ति, उपसंहार, अवसान आदि मुख्य हैं तथापि इस शब्द का नतीजा या फल अर्थ बहुधा स्वीकार किया गया है । यद्यपि परिणामवादी **''पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरप्राप्तिलक्षणं परिणामम्''** कहकर प्रकृति के अन्यथाभाव अथवा गुणों के परिणाम में इसका समन्वय करते हैं । तर्कसंग्रह में **''भुक्तस्य परिणामहेतुः औदर्यम्''** कहकर परिणाम शब्द का पचने अर्थ में प्रयोग किया गया है ।

पातञ्जलयोगसूत्र **''परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः''** में परिणामदुःख नतीजे या फल के रूप में ही ग्रहण किया गया है । वहाँ कहा गया है कि जो सुखार्थी विषयों की वासना से ग्रस्त होकर महान् दुःख के कीचड़ में इस प्रकार डूब जाता है, वह निश्चय ही मानों बिच्छू के जहर से डरकर साँप के विष से डँसा गया । यह अप्रिय परिणामदुःखता सुखभोगावस्था में भी योगी को कष्ट ही देती है ।

कठोपनिषद् में नचिकेता यम द्वारा प्रस्तावित स्वर्ग सुखों को परिणाम के आधार पर ही ठुकरा देता है । उसका कहना है कि स्वर्ग के सुख यद्यपि अलौकिक हैं परन्तु स्वर्ग में रहकर उनका उपभोग करने वाले देवता सुखी नहीं हैं क्योंकि उनके मन में "**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं**" का डर समाया हुआ है । वह सुख, सुख नहीं जिस सुख के बाद दुःख दिखाई देता हो ।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'कर्मों के परिणाम' में कर्मों के फल ही परिणाम शब्द से अभिप्रेत है । हमें विचार करना होगा कि कर्म क्या हैं? और उनके परिणामों की उत्पत्ति कैसे होती है तथा कर्मों एवं उनके परिणामों के बीच कर्ता का सम्बन्ध कैसे स्थापित होता है ।

कृ धातु से मनिन् प्रत्यय करने पर नपुंसकलिंग कर्मन् शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका तात्पर्य कृत्य विशेष से होता है। इस शब्द की बड़ी विवेचना शास्त्रों में की गई है तथा इनके वर्गीकरण हेतु विभिन्न दृष्टियों का अवलम्बन किया गया है। विविध शास्त्रों में कर्म शब्द को पारिभाषिक रूप में भी ग्रहण किया गया है। देहेन्द्रिय का समेकित व्यापार कर्म कहलाता है । उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन यह पाँच कर्म हैं । नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त और प्रतिषिद्ध- इस तरह कर्म के पाँच भेद माने गये हैं । अन्यत्र संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ऐसे कर्म के तीन विभाग हैं । कायिक, वाचिक और मानसिक तीन विभाग और कहे हैं । विहित और निषिद्ध कर्म के यह दो भेद भी प्रसिद्ध हैं । पुनः इनके तीन भेद सात्विक, राजस् और तामस नाम से होते हैं । जिनका विवरण निम्न है-

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते ।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्,
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुच्यते ।।

शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण ऐसे तीन और भेद कर्म के कहे गए हैं जिनसे त्रिविध शरीरों की प्राप्ति कही गई है । यथा-

शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम् ।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से छः कारकों में से दूसरा कर्म कारक भेद है जिसमें द्वितीया विभक्ति होती है । इसका लक्षण किया है - **धातूपात्तव्यापारजन्यफलाश्रयं कर्म** । जो फलार्थी द्वारा किया जाय वह कर्म है अथवा कर्ता का व्यापार ही कर्म है क्योंकि कृ धातु से समस्त क्रियाएँ कही गई हैं । यह चार प्रकार का होता है- पहला निर्वर्त्य, दूसरा विकार्य- यह प्रकृति का उच्छेदक और प्रकृति का गुणान्तराधायक इस तरह दो प्रकार का होता है । भर्तृहरि ने कहा है - **यदसज्जायते पूर्वं जन्मना यत् प्रकाश्यते । तन्निवर्त्यं विकार्यञ्च कर्मद्वेधा व्यवस्थितम् ।।** तीसरा प्राप्य और चौथा अनीप्सित।

यह सभी भेद कर्म के प्रति विविध दृष्टिकोणों के तथा उसकी व्यापकता के परिचायक है। कर्म अत्यन्त व्यापक हैं । कहा गया है कि - **"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"** अर्थात् ऐसा कोई नहीं है जो एक क्षण भी कर्म के बिना रह सके । हमारां पूरा जीवन कर्म करते ही बीतता है । ऐसा एक क्षण भी नहीं आता जब हम कोई कर्म न कर रहे हों । उपनिषद् का आदेश भी है - **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"** अर्थात् कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करना चाहिए ।

ऐसी स्थिति में जब कर्म हमारे जीवन में सोते, जागते सभी अवस्थाओं में हर समय समाया हुआ है तो हमें अपने कर्मों पर

गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा तथा छोटे बड़े किसी भी कर्म की उपादेयता अपने जीवन के प्रति सिद्ध करनी होगी ।

कर्मों के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध हो जाने पर हमें कर्मफल के बारे में विचार करना चाहिए । इस सम्बन्ध में हम भौतिक विज्ञान के कार्य-कारण सिद्धान्त का सहारा ले सकते हैं । अतः सिद्ध हुआ कि कर्मों से उनके फल की प्राप्ति होती है और स्वाभाविक रूप से शुभ कर्मों से शुभफल एवं अशुभ कर्मों से अशुभ फल की प्राप्ति होती है।

यह प्रतिपादित है कि कर्म से, चाहे वे सत् हों या असत् छुटकारा नहीं मिल सकता, हमें उनके शुभ या अशुभ फल भोगने ही पड़ते है -

न तु भोगादृते पुण्यं पापं वा कर्म मानवम् ।
परित्यजति भोगाच्च पुण्यापुण्ये निबोध मे ।
तस्मात् कृतस्य पापस्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।
नाभुक्तस्यान्यथा नाशः कल्पकोटिशतैरपि ।।

आदि शङ्कराचार्य जी वेदान्तसूत्र **तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेष विनाशौ तद् व्यपदेशात्** के भाष्य में कहते हैं- **ब्रह्माधिगमे सति तद् विपरीतफलं दुरितं क्षीयते न क्षीयते वेति संशयः । किं तावत् प्राप्तम्? फलत्वात्कर्मणः फलमदत्त्वा न संभाव्यते चयः । फलदायिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता । यदि तदन्तरेणैव फलोपभोग-मपवृज्येत श्रुतिः कदर्थिता स्यात्** ... इत्यादि ।

यहाँ यह प्रश्न आया है कि ब्रह्मज्ञान होने पर ब्रह्मज्ञानी के पाप फल नष्ट हो जाते हैं अथवा नहीं । इस प्रश्न पर भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि कर्म फलवान् है । यदि श्रुति विहित कर्म की फलवत्ता हम नहीं मानेंगे तो श्रुति अपमानित होगी ।यही कारण है कि **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि** आदि श्रुतियों को भगवान् भाष्यकार ने स्तुतिपरक ही

स्वीकार किया है ।

प्रायश्चित्त विवेक नामक ग्रन्थ कहता है - **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्** शुभ और अशुभ दोनों कर्मों के फल (मनुष्य को) अवश्य ही भोगने पड़ते हैं । विहित कर्मों को शुभकर्म और निषिद्ध कर्मों को ही अशुभ कर्म कहा जाता है ।

महानिर्वाणतन्त्र में श्री सदाशिव का वाक्य है कि -

अनुष्ठानं निषिद्धस्य त्यागो विहित कर्मणः ।
नृणां जनयतः पापं क्लेश शोकाभयप्रदम् ।।

अर्थात् निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान और विहित कर्मों के त्याग से 'पाप' नामक अपूर्व की उत्पत्ति होती है जिससे क्लेश, शोक और रोगों की उत्पत्ति होती है । पाप भी दो प्रकार होते हैं - पहला स्वानिष्टमात्रजनक अर्थात् केवल अपने अनिष्ट का उत्पादक और दूसरा- परानिष्टजनक अर्थात् दूसरों को तकलीफ पहुँचाने वाला । दूसरों को हानि पहुँचाने से उत्पन्न पाप राजदण्ड भोगने से विनष्ट होते हैं और स्वानिष्टजनक पाप से मुक्ति प्रायश्चित्तादि के द्वारा होती है । यदि प्रायश्चित्त और दण्ड के भोग से पापों को यहीं शून्य नहीं किया गया तो नरकलोक की प्राप्ति होती है और विभिन्न प्रकार के पापों के फल भोग हेतु निश्चित विभिन्न नरकों की यन्त्रणा सहना ही होता है । महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार पापकर्म दस बताए गए हैं -

प्राणाभिपातनं स्तैन्यं परदारमथापि च ।
त्रीणिपापानि कामेन सर्वतः परिवर्जयेत् ।।
असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेत् न चिन्तयेत् ।।
अनभिध्यापरत्त्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ।।

शास्त्रों में पापकर्मों, उनके फलों तथा उनके भोगार्थ नरकों एवं

उनसे बचने के लिए प्रायश्चित्तादि का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रमुख पापकर्म एवं उनसे बचने के उपाय निम्न हैं -

दुष्कृत्यों को ही पापकर्म कहा जाता है। इन्हें पाँच श्रेणियों में बाँटा गया है - महापाप (प्राणहारी पाप), अतिपाप (जिनसे बढ़कर कोई अन्य पाप न हो), पातक (ऐसे पाप जो महापातक के समान हैं), प्रासंगिक पाप (जो संगति से हुए हों), उपपातक (साधारण पाप)

पापों से बचने के लिए अनेक विधान शास्त्रों में दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें से अपराध स्वीकृति, पश्चात्ताप, प्राणायाम, तप, होम, जप या वेद पारायण, दान, उपवास तथा तीर्थयात्रा मुख्य हैं। प्रायश्चित्त व्रतों में मुख्य रूप से अघमर्षण, अतिकृच्छ्र, अतिसान्तपन, अर्धकृच्छ्र, अश्वमेधावभृथस्नान, आग्नेयकृच्छ्र, ऋषिचान्द्रायण, एकभुक्त, कृच्छ्र, कृच्छ्र संवत्सर, कृच्छ्रातिकृच्छ्र, गोमूत्रकृच्छ्र, गोव्रत, चान्द्रायण, जलकृच्छ्र, तप्तकृच्छ्र, तुलापुरुषकृच्छ्र, दधिकृच्छ्र, देवकृच्छ्र, धनदकृच्छ्र, नित्योपवासकृच्छ्र, पञ्चगव्यप्राशन, पराक, पूर्णकूर्च, पादकृच्छ्र, पादोनकृच्छ्र, पुष्पकृच्छ्र, प्रसृतियावक, प्राजापत्य, फलकृच्छ्र, बृहद् यावक, ब्रह्मकूर्च, महासान्तान, महेश्वरकृच्छ्र, मूलकृच्छ्र, यज्ञकृच्छ्र, यतिचान्द्रायण, यति सान्तपन, याम्य, यावक, वज्र, वायव्य, कृच्छ्र, वृद्धिकृच्छ्र, व्यासकृच्छ्र, शिशुकृच्छ्र, शिशु चान्द्रायण, शीतकृच्छ्र, श्रीकृच्छ्र, सुवर्णाकृच्छ्र, सोमायन तथा सौम्यकृच्छ्र आदि आते हैं।

पापकर्म करने ही न चाहिए। यदि हो जाएँ तो शास्त्रविधानानुसार उनका प्रायश्चित्त कर पुनः न करने का संकल्प ले लेना चाहिए। यदि पाप हुआ पर उसका प्रायश्चित्त न किया तो नरक जाना तय है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का वचन है-

प्रायश्चित्तविहीना ये राजभिश्चाप्यवासिताः।
नरकं प्रतिपद्यन्ते तिर्यग्योनिं तथैव च ।।

अर्थात् जिसने पापकर्म का न तो प्रायश्चित्त किया और न ही

राजा के समक्ष दण्ड स्वीकार किया उसे नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं तथा नीच योनियों में जन्म लेना पड़ता है ।

एतावता शुभाशुभ कर्मफल ही कर्मों के परिणाम के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं और हम तत्तत् पाप परिणामों के भोग से बच नहीं सकते, यह सिद्ध हुआ । ऐसी स्थिति में यह निश्चय करना होगा कि हम पापकर्म से ही विरत रहें । यद्यपि प्रायश्चित्तादि से दुष्कर्म फलों की समाप्ति शास्त्रसिद्ध है तथापि कीचड़ लगाकर धोने से अच्छा है कि हम कीचड़ में पड़ने से ही बच लें ।

सद्गुरु के एक वाक्य पर एक ग्रन्थ का निर्माण कर देना, कोई सरल सा कार्य नहीं है । वट बीज में वटवृक्ष समाया है यह सही है लेकिन वटबीज में समाए वटवृक्ष को साकार बना देना अत्यन्त परिश्रम तथा धैर्य से ही संभव है उसी प्रकार सद्गुरु के एक वाक्य को ग्रन्थ के रूप में परिणत कर देना, विशाल चिन्तन एवं श्रद्धा-सामर्थ्य का द्योतक है । ऐसा ही महनीय कार्य पूज्यपाद महाराज श्री के शिष्य एवं हमारे आदरणीय गुरुभाई ब्रह्मचारी श्री प्रकाशानन्द जी ने कर दिखाया है । पूज्य महाराजश्री ने उन्हें एक वाक्य - **''रोटी जली सो जली और न जलने पाये''** कहा था । इसी एक वाक्य को ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर दिखाया है ब्रह्मचारी जी ने ।

हमने एक कथा सुनी थी कि एक गुरु के अनेक शिष्य थे । गुरु ने शिष्यों की योग्यता की परीक्षा के लिए एक-एक चना दिया और दो वर्ष बाद आने को कहा । किसी शिष्य ने चना सुरक्षित रखा, कोई खा गया, कोई भूल गया । पर एक शिष्य ने उसे बो दिया । पकने पर अनेक चने निकले उन्हें भी बोता रहा । नियत समय पर गुरु ने चना वापस माँगा । इस पर और गुरुभाई तो बगली झांकने लगे पर उस एक शिष्य ने बोरा खोल दिया और कहा

यह है आपका चना । गुरु प्रसन्न थे । उनका भाष्यकार मिल चुका था । क्या ब्रह्मचारी जी वही शिष्य है? यह प्रश्न आज ग्रन्थरूप में उत्तरित हो रहा है ।

पूज्यपाद सद्गुरुश्री की कृपा हम सभी पर बनी रहे और हम सभी गुरुभाई मिलकर उनके सिद्धान्तों, विचारों, संकल्पों और कल्पनाओं को आगे बढ़ाने, फैला देने में सफल हों यही उनके पूजित श्रीचरणों में अभ्यर्थना है ।

श्री ब्रह्मचारी जी का यह ग्रन्थ जनसामान्य के हृदय में पापकर्मों से भीति और शुभकर्मों में प्रीति का उत्पादक बनेगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

श्रीविद्यामठ,
केदारघाट, वाराणसी-1

स्वामी अविमुक्तेश्वरानन्द सरस्वती

अध्यायक्रम

पहला अध्याय

रोटी न जलने पाये

'रोटी जली सो जली, अब और न जलने पाये' कहावत का अर्थ है - कर्म न बिगड़ने पाये । अभी तक जो रोटी जली सो जली, पर अब ऐसा प्रयास किया जाए कि आगे कोई भी रोटी न जले । रोटी खाने के लिए होती है । भूख शान्त करने के उद्देश्य से मनुष्य स्वयं के लिए अथवा अपने से पृथक् अपने ही किन्हीं व्यक्तियों के लिए रोटी बनाता है, जिनको वह स्वयं भी खाता है। इस प्रकार दूसरों के लिए बनायी गयी रोटियों में स्वयं के भी खाने का अन्तर्भाव सन्निहित रहता है । इसलिए कहना होगा कि रोटी चाहे किसी के भी लिए बनायी जाय किन्तु उसे स्वयं को भी खाना होगा ।

प्रायः रोटी स्वयं के लिए ही बनायी जाती है । अतः विचारणीय है कि जो रोटी बनायी जा रही है, उसे हमारे सामने ही आना है। उन रोटियों को हमें ही खाना है । जली रोटी खाने की इच्छां कोई नहीं करता । भोजन के समय यदि थाली में जली रोटी आ जाय तो खाने वाले का भाव ही बदल जाता है । आज मनुष्य विविध स्वाद की इच्छा से तरह-तरह का भोजन करता है । उसका भोजन देखकर दूसरा भी उसी ढंग से अच्छा भोजन करने की इच्छा करता है । रोटी यदि जल जाय अथवा बिगड़ जाए तो खाने का मन ही नहीं करता । ऐसी स्थिति में हमें यह अच्छी तरह से समझ लेना

आवश्यक है कि हम रोटी बनाते समय उसे जलने से बचायें।

यहाँ रोटी कर्म है । व्याकरण की दृष्टि से भी देखा जाय तो 'अमुक रोटी को खाता है' ऐसा कहने पर रोटी कर्म बनती है । रोटी को बनाना, जलाना आदि कर्म हैं । बनी रोटी, जली रोटी आदि को उपलब्ध करना कर्मफल है । क्रिया, कर्म और कर्मफल (परिणाम) परस्पर घनिष्ठ रूप में जुड़े होने के कारण क्रिया ही कर्म रूप में और कर्म ही कर्मफल के रूप में सामने आते हैं । जो कुछ भी किया जाता है उन सबका कोई न कोई परिणाम अवश्य होता है, जो समय आने पर कर्मफल के रूप में कर्म करने वाले के समक्ष उपस्थित होता है और उपलब्ध होता है ।

यह मानव शरीर भी एक उपलब्धि है । जीव चौरासी लाख योनियों में घूमने के बाद अन्त में मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि चौरासी लाख योनियों में चार प्रकार के जीव हैं -

आकर चारि लाख चौरासी ।
जाति जीव जल थल नभ बासी ।।

उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज ये चार प्रकार के जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं, जिनमें प्रत्येक जीव को भ्रमण करना पड़ता है बृहत् विष्णुपुराण में लिखा है कि -

स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम् ।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम् ।।
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे ।
ततो हि मानुषा जाताः कुत्सितादेवि लक्षकम् ।।

अर्थात् बीस लाख बार स्थावर (उद्भिज) में, नौ लाख बार जलचर, ग्यारह लाख बार स्वेदज योनि में, उन्नीस लाख बार अण्डज योनि में, चौंतीस लाख बार पशु आदि योनियों में घूमने के बाद

जीव अन्त में मनुष्य योनि में आता है । मनुष्य योनि में आने के पहले का अन्तिम जन्म जीव का किस योनि में होता है इस विषय में शास्त्रों में कहा गया है कि त्रिगुण के भेद से मनुष्य के पहले का अन्तिम जन्म भी तीन प्रकार का हुआ करता है । यथा - तमोगुण के प्राधान्य से अन्तिम जन्म बन्दर का, रजोगुण के प्राधान्य से अन्तिम जन्म सिंह का तथा सत्वगुण के प्रधान्य से अन्तिम जन्म गोजाति में होता है । इस प्रकार चौरासी लाख योनियों में अन्तिम मनुष्य योनि को यह जीव पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए प्राप्त करता है । इसलिए नृदेह का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है ।

श्रीमद्भागवत के अनुसार **नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम् है** । ऐसा अत्यन्त दुर्लभ शरीर प्राप्त कर यदि कर्म बिगाड़ दिये जायें तो रोटी जल जाने के बराबर ही हैं । क्योंकि मनुष्य योनि में किये कर्म का ही कर्मफल उपलब्ध होता है । मनुष्य योनि में आने के बाद पञ्चकोशों के पूर्ण विकास हो जाने के कारण जीव प्रकृति के स्वाभाविक क्रमोन्नति के नियमों की उपेक्षा करके स्वेच्छाचार करना प्रारम्भ कर देता है, जिससे उसकी उन्नति का स्वाभाविक क्रम बन्द हो जाता है। तब वह अपने द्वारा किए गए नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने के लिए आवागमन चक्र में भटकने लगता है और उसके जटिल कर्म उसकी गति को भी जटिल बना देते हैं । इस कारण वह कभी नरक, कभी स्वर्ग, कभी प्रेत, कभी असुर, कभी मनुष्य योनि में, कभी नीचे तथा कभी ऊपर अपने कर्मवश आता जाता रहता है एवं नाना प्रकार के सुख-दुःख की दशाओं को प्राप्त करता रहता है । उसके कर्म इन सब सुख-दुःख भोगों के कारण बनते हैं। योगदर्शन में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि-

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः।
सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश, ये जो पाँच क्लेश हैं, इनका मूल कारण कर्माशय है, जिनका भोगदृष्ट जन्म अर्थात् इस वर्तमान जन्म में एवं अदृष्ट (भावी) जन्म में हुआ करता है । इनका फल जाति, आयु एवं भोग है । किस जाति में जन्म होगा ? हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र में से कोई एक । कितने दिन की आयु होगी तथा किस प्रकार का भोग प्राप्त होगा, यह सब प्राक्तन कर्म पर निर्भर करता है । परन्तु योगशास्त्र के अनुसार यह भी निश्चित किया गया है कि मनुष्य चाहे तो अलौकिक पुरुषार्थ द्वारा अपनी जाति बदल सकता है । आयु को कम या अधिक कर सकता है एवं भोगों में भी तारतम्य स्थापित कर सकता है । मनुष्य यौगिक पुरुषार्थ के बल पर दृष्ट कर्म संस्कार को अदृष्ट एवं अदृष्ट को दृष्ट में भी परिणत कर सकता है । इस प्रकार मनुष्य एक ही जन्म में बहुत उन्नत हो सकता है । किन्तु यह असाधारण शक्ति की प्राप्ति एवं सुयोग सभी के लिए सम्भव नहीं । ऐसी अवस्था में कोई ऐसा उपाय होना चाहिए, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकार एवं सामर्थ्य के अनुसार अपनी क्रमोन्नति के क्रम को बनाए रखकर आगे बढ़ता जाए एवं उसका अधःपतन जो मनुष्य योनि में आकर प्रारम्भ हुआ है, वह न हो । जीव क्रमोन्नति करता हुआ अन्त में अपने मूल लक्ष्य को प्राप्त कर सके । मनुष्य योनि में आकर अधःपतन की गर्त्त में गिरते हुए जीवों के कल्याण हेतु एवं अधःपतन से बचने के लिए अनेक अङ्गोपाङ्ग से युक्त धर्म की शिक्षा सनातन ऋषि मुनियों की परम्परा द्वारा अक्षुण्ण चली आ रही है । इसे ही सनातन धर्म आदि के नाम से जाना जाता है । ऋषियों के हृदय में मानवों के लिए जो नीतियुक्त भावतरङ्गें उठीं, उन्हें ही शास्त्रविहित धर्म की संज्ञा दी गयी । ये ही मानव धर्म के रूप में आज भी मान्य हैं ।

धर्म के चार भाग किये गये हैं - 1. साधारण धर्म, 2. विशेष धर्म, 3. असाधारण धर्म तथा 4. आपद्धर्म ।

१. साधारण धर्म

शास्त्रों में साधारण धर्म के बहत्तर अङ्ग बतलाये गए हैं । उनमें से यज्ञ, दान और तप तीन प्रमुख हैं । अहिंसा, क्षमा, दया, सत्य अक्रोध आदि अनेक उपाङ्ग हैं । इनके द्वारा मानव जाति का प्रत्येक व्यक्ति लाभ उठा सकता है ।

२. विशेष धर्म

विशेष-विशेष अधिकारियों के लिए ये विशेष धर्म हैं । जैसे नारी धर्म, नारी जाति विशेष के लिए हैं । चारो वर्णों के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म आदि विशेष धर्म कहे गये हैं । इनमें पृथक्-पृथक् देश, काल, पात्र के उन्नतिवर्द्धक नियम सम्मिलित हैं ।

३. असाधारण धर्म

असाधारण धर्म तो केवल असाधारण शक्ति प्राप्त किसी विशेष अधिकारी के लिए ही होते हैं ।

४. आपद्धर्म

यह धर्म आपत्ति के समय अपनी रक्षा के लिए होता है । आपत्काल का आचार वह होता है जिसे आपत्ति के समय धर्म कहा जाता है परन्तु दूसरे समय उसी का वर्त्तन अधर्म हो जाता है ।

इसी प्रकार विशेष धर्म का प्रधान अङ्ग वर्ण एवं आश्रम धर्म है। जातिविशेष या मनुष्य श्रेणी विशेष की प्रकृति, प्रवृत्ति, स्वभाव आदि के अनुसार केवल उसी मनुष्य श्रेणी विशेष के कल्याण के लिए विशेष धर्म की मर्यादा है । वह और किसी के लिए हितकारी नहीं है । यहाँ एक का धर्म दूसरे के लिए अधर्म होता है, ऐसा मानना

ही उचित है । भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं -

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।

अर्थात् अपना धर्म सदोष होने पर भी दूसरे के सम्यक् अनुष्ठित धर्म से श्रेष्ठ है । अपने धर्म में मरना भी अच्छा है । दूसरे का धर्म भयावह है ।

पृथ्वी में जितने भी प्रकार के धर्म-मत प्रचलित हैं, वे सभी मानव धर्म के अन्तर्गत साधारण धर्म के अङ्गोपाङ्ग कहे जा सकते हैं। वर्णाश्रम धर्म रूपी विशेष धर्म की व्यवस्था केवल सनातन धर्म में अनादि काल से प्रचलित है । इसके द्वारा मनुष्य अपनी प्रबल उच्छृङ्खल विषय वासना की प्रवृत्तियों को धीरे-धीरे नियमित एवं संयमित करके मुक्तिपथ की ओर अबाध रूप से बढ़ता जाता है । इस कारण शास्त्रों में वर्ण-धर्म को प्रवृत्तिरोधक एवं आश्रम धर्म को निवृत्तिपोषक कहा गया है । त्रिगुणमयी प्रकृति के तमोराज्य में जीव भाव का विकास होने के बाद क्रमशः तमोभूमि, रजस्तमोभूमि, रजः सत्वभूमि एवं सत्वभूमि में क्रमशः विकास होता हुआ जीव अन्त में निर्मल और कल्मषरहित होकर पूर्णता प्राप्त करता है । इन चारों भूमियों में जीव को स्थूल तथा सूक्ष्म प्रकृति के अनुसार जिन क्रमोन्नतिप्रद धर्माचरणों का पालन करना पड़ता है, वे ही वर्ण धर्म हैं । प्रथम भूमि शूद्र की है । इसमें स्वभावतः तमोगुण का ही आधिक्य रहता है । तमोगुण के आधिक्य से बुद्धि भी तामसी होती है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने तामसी बुद्धि का लक्षण बताते हुए कहा है कि -

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।

अर्थात् जो अधर्म को धर्म समझे और सभी विषयों को विपरीत समझे वह बुद्धि तामसी है । इस भूमि में अपनी बुद्धि द्वारा कर्म करने से भ्रम या प्रमादवश पग-पग पर जीव के पतन की सम्भावना रहती है । अतः शास्त्रों में शूद्र को अपनी बुद्धि से अथवा अपनी इच्छानुसार कर्म न करके द्विजों की आज्ञानुसार कर्म करने तथा सेवा धर्म का उपदेश है । यहाँ उनका अपमान करने या उन्हें नीचा दिखाने का भाव नहीं है, अपितु उनके अधिकार एवं सामर्थ्य के अनुसार उनकी उन्नति के लिए सरल मार्ग का निर्देशन है। इसका अनुसरण करके वह अपने शूद्र वर्ण की तामसी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों की गति को संयमित करके उस भूमि से उन्नत होकर वैश्य योनि में आएगा ।

इस भूमि में जीव में स्वभावतः तम-रज की प्रधानता होगी । इस कारण कर्म की और धनोपार्जन की प्रवृत्ति स्वतः होगी । अतः संयमित करके पतन से बचाने के लिए वाणिज्यादि के द्वारा धनोपार्जन करने का निर्देश दिया गया है और अर्जित धन से गोरक्षा, दरिद्रों की सेवा तथा उस धन को अन्य वर्णों के प्रतिपालन में खर्च करने का आदेश है। इस नियम का पालन करने से वैश्य योनि वाला मनुष्य अपनी प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुकूल कर्म करके भी विषयी नहीं बन सकता, अपितु प्रवृत्ति का निरोध करके वह अपने अधिकार से आगे बढ़ जाता है । इसके पश्चात् क्षत्रिय योनि में आकर उसमें रजः सत्वगुण का स्वभावतः उदय होता है, जिससे रजोगुण प्रधान एवं सत्वगुण गौण रहता है। इस भूमि में युद्धादि की प्रवृत्ति, शासन की प्रवृत्ति स्वतः होती है। यही प्रवृत्ति प्रबल होकर परपीड़ा देने के रूप में परिणित होकर पतन का कारण न बन जाय इसलिए शास्त्रों में प्रजा के रक्षार्थ धर्मयुद्ध, धर्मानुकूल प्रजा के शासन आदि का निर्देश है । अपनी ही प्रकृति व प्रवृत्ति के अनुसार कर्म को शास्त्रोक्त

रीति से करने से क्रमशः उस प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है और इस तरह क्रमोन्नत होकर वह जीव ब्राह्मण योनि में आता है । यहाँ सत्व गुण की प्रधानता से स्वतः तमोगुण और रजोगुण निर्बल हो जाते हैं, जिससे स्वभाविक ही प्रवृत्ति के त्याग और निवृत्ति के ग्रहण की इच्छा होगी । रजोगुण सम्भूत धन की लालसा को त्यागकर वह त्याग-तप को ही धन समझेगा । इन्द्रियों का दमन कर वह संयमी बनेगा । इस लोक को क्षणभङ्गुर समझ कर तप एवं स्वाध्याय में निरत होगा । विषयों के प्रति विरक्त होकर आत्मा के अनुसंधान में लगेगा तथा अपनी जीवन सरिता की गति को अन्तर्वाहिनी बनाकर उसको ब्रह्म महासागर की ओर प्रवाहित करके अपने जीवन को सार्थक बनायेगा ।

ब्राह्मण योनि का एक मात्र यही उद्देश्य है । यही शास्त्रविहित कर्म है । जो जीव ब्राह्मण शरीर प्राप्त कर शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म नहीं करता, वह जन्मान्तर में पुनः ब्राह्मण योनि को प्राप्त नहीं करता, अपितु अपने कर्मानुसार नीच योनि को प्राप्त होता है । यदि शास्त्रोक्त धर्म एवं मर्यादा का पूर्णरूप से पालन करता है तो क्रमशः सत्वगुण की पूर्णता में पूर्णरूप से प्रवृत्ति का निरोध हो जाने से अपवर्ग प्राप्त हो जाता है । यही वर्णधर्म के द्वारा प्रवृत्ति निरोध का मार्ग है ।

इसी प्रकार आश्रम धर्म के पालन के द्वारा निवृत्ति पोषण होता है । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्न्यास ये चार आश्रम हैं । इनमें से ब्रह्मचर्य आश्रम में आचार्य के अधीन रहकर धर्ममूलक प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की शिक्षा ग्रहण की जाती है । इसी का चरितार्थ अनुभव गृहस्थाश्रम में किया जाता है। प्रवृत्ति भाव शुद्धिपूर्वक एवं धर्म के नियमों से आबद्ध होने के कारण वासना के दृढ़ बन्धन शिथिल हो जाते हैं । विषयासक्ति घट जाने से क्रमशः वासना के

संकोच द्वारा प्रवृत्ति निरोध होने पर वानप्रस्थ का प्रारम्भ होता है । इस तपोमूलक पवित्र आश्रम में तपस्या रूपी अग्नि में शरीर, मन एवं बुद्धि को तपाकर पवित्र किया जाता है । जिस तपस्या और त्याग की शिक्षा गृहस्थाश्रम में होती है, उसका साधन और अभ्यास इस वानप्रस्थ आश्रम में किया जाता है, जिससे पवित्र, क्षीणकल्मष वानप्रस्थी यथासमय चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करता है ।

कुछ पूर्व अभ्यासी साधक पूर्व जन्म के अभ्यास से ब्रह्मचर्याश्रम में ही इस योग्यता को प्राप्तकर लेने के कार ऊर्ध्वरेता होकर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण कर चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम में बोया गया निवृत्तिरूपी बीज गृहस्थ आश्रम में अङ्कुरित होकर वानप्रस्थ आश्रम में पुष्पित, पल्लवित होता है एवं सन्न्यास आश्रम में त्यागरूपी जल, साधनरूपी मलयपवन एवं ज्ञानरूपी सूर्य के संयोग से पूर्ण परिपुष्ट होकर नित्यानन्दमय निःश्रेयस रूपी अमृतफल उत्पन्न करता है । यही वर्ण एवं आश्रम धर्म की सहायता से क्रमशः प्रवृत्ति का निरोध, निवृत्ति का पोषण तथा अन्त में उसकी पूर्णता का मधुर रहस्य है ।

धर्म के नाम पर जितने भी मत-मतान्तर और पन्थ आदि प्रचलित हैं, उन सबका उद्देश्य यही है कि मनुष्य उच्छृङ्खलतापूर्वक इन्द्रियों की सेवा करके अपना अधःपतन न करे, अपितु स्वार्थ परायणता से रहित होकर क्रमोन्नति करते हुए अन्त में त्रितापहारी भगवान् के श्रीचरणों में पहुँचकर चिर शान्ति प्राप्त करे । अतः जो व्यक्ति जिस धर्म में उत्पन्न हुआ है, उसे उस धर्म की मान्यता और विश्वास का निष्ठा के साथ आचरण करते हुए अधःपतन से बचना चाहिए ।

बनायी गई जली रोटी की तरह किये गए अशुभ कर्म अशुभ कर्मफल के रूप में किसी भी समय समक्ष हो ही जाएँगे। अतः अशुभ कर्म करने से बचें, अधःपतन से बचें । ऋषि-मुनि, मनीषियों

ने अपनी आध्यात्मिक साधना कृत संचित अमित मेधा के द्वारा धर्म के स्वरूप को अच्छी तरह से जाना । मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता है, इन बातों का विचार करके यह निश्चय किया कि चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद इस जीव ने पशुयोनि से मनुष्य योनि प्राप्त किया है । अब यदि यह मनुष्य पाशविक वासनाओं का उच्छृङ्खलतापूर्वक भोग करके फिर से पशुयोनि आदि निम्न योनियों में चला गया तो इसका अधःपतन हो जायेगा । इसलिए उसको अधःपतन से अर्थात् कर्म बिगड़ने से बचाने के लिए धर्म से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया । धर्म का आचरण करने से मनुष्य योनि को प्राप्त जीव का इहलौकिक और पारलौकिक (पारमार्थिक) कल्याण सुनिश्चित हो जाता है ।

वेदों में क्रमशः कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन उनके ब्राह्मण भाग, संहिता भाग और उपनिषद् भाग में किया गया है । इनके आधार पर ही अनादि काल से कर्म, उपासना और ज्ञान की साधना प्रचलित हैं, जिनके द्वारा अन्तःकरण निर्मल होने से वासनाक्षय द्वारा अज्ञान का निवारण होता है तथा परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न अपने स्वरूप का बोध होता है । यही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है । इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही जीव को यह मानव जीवन मिला है । अतः इसकी उपलब्धि करना चाहिए । किन्तु बीच में ही मनुष्य लक्ष्यच्युत होकर जन्मजन्मान्तर की वासनाजन्य प्रवृत्ति में लिप्त हो जाता है और राग-द्वेष के भाव के साथ काम, क्रोध, लोभ, मोह से सम्बन्धित कोई न कोई अनर्थकारी कार्य कर लेता है, जिसके कारण लोक अथवा परलोक में या दोनों जगह किसी भी योनि में रहकर असहनीय दुःख भोगता है । यही रोटी का जलना है ।

हमसे रोटी न जले, हमारे कर्म न बिगड़ें इसके लिए सतर्कता

से विवेक-विचार आदि के साथ प्रतिपादित धर्म का आश्रय लेना होगा। कर्म करने की स्वतन्त्रता का अनुभव करके उच्छृङ्खलतापूर्वक विषय वासनाओं में लिप्त होना, मनमाना पशुवत् आचरण करने का परिणाम जीव को ही भोगना पड़ेगा। कहा भी है - **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।** इसलिए यह आवश्यक है कि आज तक जो हुआ उसे भूल जाएँ और वर्तमान के सुधार में लग जायें।

जीव ऐसा निश्चय कर ले कि जो कर चुका, सो कर चुका। आगे अब से वैसा नहीं करूँगा। अब जो भी करूँगा वह धर्म, न्याय एवं नीति से उचित-अनुचित के विचार के साथ करूँगा, तब ही कर्म नहीं बिगड़ेंगे।

इस प्रकार रोटी न जलने पाए के भावार्थ को व्यक्त करने के बाद अब हम विविध शुभ-अशुभ कृत कर्मों की गति-अगति आदि गूढ़ विषयों पर प्रकाश डालते हुए कर्मविपाक के विषय में विचार करेंगे।

दूसरा अध्याय

परिणाम और विचार

मनुष्य कोई न कोई कर्म अवश्य करता है । कर्म के परिणाम अर्थात् कर्मफल को ही शास्त्रों में कर्म-विपाक कहा गया है । इसलिए कर्मफल के अभिप्राय से यहाँ परिणाम शब्द की विवेचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है । जीव को यह मनुष्य शरीर किसी शुभकर्म के परिणामस्वरूप ही प्राप्त हुआ है । जिस प्रकार किसी कार्य का कारण अवश्य होता है, उसी प्रकार कार्य का परिणाम भी निश्चित होता है । वही बाद में कारण का रूप धारण कर लेता है । समझने के लिए एक वृक्ष का ही उदाहरण ले लीजिए । मान लीजिए वृक्ष से फल व बीज बना और उसी बीज से फिर वृक्ष बना। इसमें विचार किया जाय तो मिलेगा कि बीज के भीतर सूक्ष्म रूप में वृक्ष ही होता है जो अङ्कुरण के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त होने पर अंकुरित होकर पौधा और पौधा से तद्रूप वृक्ष ही बन जाता है । जिस प्रकार बीज में वृक्ष कारणरूप में विद्यमान होता है वही कारण (अत्यन्त सूक्ष्म रूप) बाद में स्थूल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। वृक्ष में फल लगते हैं । इन फलों में बीज सन्निहित होते हैं । वे ही बीज परिपक्व फल में से बाहर निकलते हैं और पुनः तद्रूप वृक्ष को जन्म देते हैं । कार्य, कारण और परिणाम । परिणाम में कारण सन्निहित होने से पुनः कारण से कार्य उत्पन्न हो जाते हैं । यही सृष्टिक्रम के नियम चक्र को जन्म देते हैं। इस प्रकार अनवरत यह सृष्टिक्रम संचालित है । इसमें कार्य, कारण और परिणाम के बीच

मूल रूप से परिणाम का ही विचार करना है। यहाँ क्रिया व कर्म एक दूसरे में सन्निहित होने के कारण व्यापक-व्याप्य भाव से परिणाम कार्य बन जाता है और कार्य में कारण सूक्ष्म रूप में (छुपा) होता है । इसी प्रकार कर्म-विपाक में कर्म तथा कर्मफल एक दूसरे में व्याप्त होने से कर्मफल संचित और प्रारब्ध बनकर तद्‌रूप प्रेरणा देते हुए क्रियमाण कर्म कराते हैं । इस प्रकार विविध योनियों में जीव का जन्म-मरण का चक्र बनता रहता है एवं किये कर्मों के कर्मफल नाना रूपों में (जीव को) प्राप्त होते रहते हैं । मानव अपने जीवन में जो कुछ भी क्रियमाण कर्म, अहंता-ममता के साथ अपने को कर्त्ता भोक्ता मानते हुए राग-द्वेष के भाव से युक्त होकर करता है, वे सभी संचित होकर प्रारब्ध आदि का रूप ले लेते हैं और फिर जीव के समक्ष कर्म-विपाक बनकर उपस्थित होते हैं ।

कर्मफल के विषय में कहा गया है कि - 'किये कर्म का फल तीन दिन, तीन सप्ताह, तीन पक्ष, तीन मास, तीन वर्ष अथवा तीन जन्मादि में अवश्य ही भोगना पड़ता है ।'

जीव को शरीर (स्थूल अथवा सूक्ष्म) उसके कर्मों के कारण ही कर्मफल के भोग हेतु मिला है । यथा - **'कर्मणा दैव नेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।'** एवं **'पूर्व जातिं स्मरति शुभाशुभं कर्म विन्दति ।'** कहना होगा कि कर्मों की गति बड़ी गहन है, गूढ़ है, सहज ही समझ में नहीं आती । सम्पूर्ण सृष्टि अत्यन्त विचित्रतापूर्ण निर्मित हुई दृष्टिगोचर होती है । यथा - कोई मनुष्य जन्म से ही लंगड़ा, लूला, अन्धा अथवा किसी इन्द्रिय से रहित या क्षीण पैदा होता है तो कोई जन्म से स्वस्थ, सुन्दर, सुदृढ़, सुखी सौभाग्ययुक्त लक्ष्मीवान् होता है । सृष्टि में कोई जन्म से त्यागी एवं योगी होता है तो कोई प्रपंचरत विषयी रागी होता है । कोई बुद्धिमान् है तो कोई बुद्धिहीन है । कोई धनवान् तो कोई दरिद्र । कोई पुत्रवान् है तो कोई

निःसन्तान है । किसी के यहाँ भरा पूरा परिवार है तो खाने को नहीं और किसी के यहाँ अपार धन सम्पत्ति है तो खाने वाली, सम्हालने वाली कोई सन्तान ही नहीं । इतर योनियों में भी प्राणी विविध विषमताओं से युक्त विविध यातनाओं को भोगते नजर आते हैं । यथा - कोई पशुयोनि में भी स्वतन्त्र एवं सुखी हृष्ट-पुष्ट दिखते हैं तो कोई अत्यन्त दुबले-पतले व परतन्त्र होकर बोझ ढो रहे हैं, कोड़े और छड़ी की मार खा रहे हैं । इसका उदाहरण घोड़े, बैल और गधे आदि हैं । सूक्ष्म योनियों में रहने वाले जीवों के विषय में भी विचार किया जाय तो मालूम पड़ता है कि न जाने कितने रोज पैदा होकर विविध यातनाओं के साथ ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । उनमें भी वैषम्य दृष्टिगोचर होते हैं । न जाने कितने मनुष्य अच्छा व सुखी जीवन बिताने का प्रयास करने पर भी सुखी नहीं हो पा रहे हैं और कुछ बिना प्रयास के जन्म से ही सुखी जीवन बिता रहे हैं । उनका जन्म ही ऐसे लक्ष्मीवान्, ऐश्वर्यवान् लोगों के यहाँ हुआ है । कुछ तो ऐसे श्रीमन्तों के यहाँ जन्म लेकर भी किसी न किसी प्रकार के दुःख से दुःखी हैं । वे अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी यातनाओं से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं । कुछ लोग जीवन भर संघर्षरत रहते हुए भी कठिन मेहनत करते हैं किन्तु जीविका से अधिक उपार्जित नहीं कर पाते तो कुछ लोग सहज ही सम्पन्न होकर ऐश्वर्यर्शयुक्त जीवन बिता रहे हैं।

और भी देखिये कि एक ही व्यापार करके एक व्यक्ति उन्नति को प्राप्त कर ऊँचे पदों में पहुँच रहा है तो दूसरा व्यक्ति वही व्यापार करने पर भी दर-दर की ठोकरें खाते हुए परेशान है। किसी-किसी का जीवन-सूर्य तो मध्याह्न काल में ही अस्त हो जाता है । किसी-किसी के जीवन में तो ऐसी अपूर्व घटना घटती है कि उसके स्नेही, मित्र, बन्धुबान्धव ही उसकी क्रूरतापूर्वक हत्या कर देते हैं । जो

पहले उसके बिना नहीं रह सकते थे, उसके परम हितैषी बने थे, वे ही छोटे से सामान्य कारण को निमित्त करके कट्टर शत्रु की तरह निर्मम, क्रूर व्यवहार करते नजर आते हैं । जगत् में सारी विषमता का मूल कारण है जीव का मनुष्य योनि में रहकर उसके द्वारा किये गए शुभाशुभ कर्म । ये ही कर्म-विपाक या कर्मफल के रूप में भोगने में आते हैं ।

पुराणों में व विविध धर्म-ग्रन्थों कर्म-विपाकादि में स्पष्ट लिखा है कि जीव मनुष्य योनि में रहकर जो कुछ भी कर्म अहंता-ममता से युक्त होकर राग-द्वेष के कारण काम, क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत होकर करता है, उनका परिणाम ही संचित, प्रारब्ध कर्मफल के रूप में किसी न किसी योनि में किसी न किसी काल में भोगना ही पड़ता है । यथा -

अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नामुक्तं क्षीयले कर्म, जन्मकोटि शतैरपि ।।

अर्थात् किए गये शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है । सौ करोड़ जन्म क्यों न हो जायँ किन्तु बिना भोगे कर्म (फल) समाप्त नहीं होते । यदि प्राक्तन पुण्य-पापमय कर्म स्वीकार न किए जाएँ तो अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण इस जगत् में भोग-वैचित्र्यरूपी समस्या की कोई भी दूसरी संतोषजनक मीमांसा नहीं हो सकती है। क्यों कोई मनुष्य जन्म से लंगड़ा, लूला पैदा होता है ? क्यों कोई जन्म से स्वस्थ, सुखी, सौन्दर्य एवं श्रीः सहित उत्पन्न होता है? कोई पुनः जन्म से ही इन वस्तुओं से चिर वञ्चित ही क्यों रहता है ? कोई-कोई जन्म से योगी त्यागी क्यों होते हैं ? किसी को एक साधारण निमित्त मात्र से ही चिरकाल के लिए तीव्र वैराग्य एवं संसार से विरक्ति क्यों उत्पन्न हो जाती है ? किसी को लाख उद्योग करने पर एवं संसार के नाना प्रकार के धक्के बार-बार लगने के

बाद भी विषय विरक्ति क्यों नहीं उत्पन्न होती ? किसी की प्रतिभा स्वाभाविक रूप से ही बड़ी तीव्र होती है तो किसी को जीवन भर परिश्रम करने पर भी वही प्रतिभा क्यों नहीं प्राप्त होती ? प्राक्तन कर्म का अस्तित्व यदि नहीं स्वीकार किया जाय तो इन प्रश्नों का समाधान होना सम्भव ही नहीं है ।

इस कारण इन वैचित्र्यों का कारण पूर्वजन्मोपार्जित कर्म मानना ही पड़ेगा । भगवान् पतञ्जलि ने भी इसी कारण से प्राक्तन कर्मों को सिद्ध किया है । कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि संसार की इस विचित्रता का कारण ईश्वर की लीलाविलास एवं विभूति विकास को क्यों न मान लिया जाय ? इसमें प्राक्तन कर्म मानने की क्या आवश्यकता है ? ईश्वर अपनी अद्भुत लीला एवं अलौकिक शक्ति दिखाने के लिए ही जगत् में विचित्रता बनाते हैं । इसी से वे किसी को राजा, किसी को रंक, किसी को जन्मान्ध, किसी को सुन्दर नेत्रवान्, किसी को साधारण प्रतिभाशाली, किसी को महामूर्ख बनाया करते हैं । कोई भावुक भक्त भले ही केवल भावना के प्रवाह में इस विज्ञान को मानकर संतोष कर ले परन्तु विद्वानों में इस सिद्धान्त को स्थान नहीं मिल सकता । क्योंकि भगवान् परम करुणामय, परम प्रेममय, परम वात्सल्यमय, ज्ञान का आधार, न्याय का आगार एवं प्राणी मात्र के प्रियतम रूप हैं । प्राणी उनकी शरण ग्रहण कर अपने त्रिताप जर्जरित प्राणों को शीतल करते हैं । वे स्वयं इच्छा रहित, पक्षपातशून्य, सर्वोपरि एवं उदार हैं । वे इस जगत् को ऐसा विषमता पूर्ण बनाकर किसी को दुःखी और किसी को सुखी करके इस प्रकार अनेक प्राणियों को अनन्त दुःख के सागर में क्यों गोता लगवाएँगे? क्यों वे किसी को अनन्त सुख-सम्पत्ति एवं वैभव का अधिकारी और किसी को आजन्म महादरिद्र बनाएँगे ? ईश्वर के द्वारा ऐसी असम्बद्ध लीला कैसे की जा सकती है ? वे माया के

नियामक स्वयं माया के प्रभाव से अतीत निरन्तर ज्ञानमय हैं। **'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'** कहकर पक्षपातरहित घोषणा करते हैं। वे कभी भी अपनी इच्छापूर्ति रूप लीला विलास मात्र के लिए अपने स्वभाव से विरुद्ध महानिष्ठुर एवं मनमाना कार्य नहीं कर सकते। किन्तु दूसरी ओर यहाँ इस बात का भी विचार करना आवश्यक है कि कर्म जड़ है। इसलिए वे स्वयं फल नहीं दे सकते।

ऐसी स्थिति में कर्मों में फलोत्पत्ति के लिए किसी चेतन सत्ता की आवश्यकता का अनुभव होता है। क्योंकि लोक में भी देखा जाता है कि एक रेल के इंजन में सम्पूर्ण गाड़ी को खींचने की शक्ति विद्यमान् है। परन्तु वह अन्धा एवं जड़ शक्ति होने से स्वयं नहीं चल सकता तथा केवल चल पड़ने मात्र से भी उससे निश्चित स्टेशन पहुँचने का वाञ्छनीय कार्य नहीं हो सकता। अतः उसको चलाने और उसकी चाल को नियमित करने के लिए एक चालक की आवश्यकता पड़ती है। कितना वाष्प इंजन में होने से गाड़ी चल सकती है, अधिक बाष्प उत्पन्न होकर इंजन फट तो नहीं जायेगा, किस तरह किन-किन स्टेशनों पर कितनी देर गाड़ी ठहरेगी फिर उसका चलाना, स्थान के अनुसार उसके वेग को कम ज्यादा करना, आदि कार्य इंजन स्वयं नहीं कर सकता। क्योंकि शक्ति होते हुए भी वह स्वयं जड़ है। यह तो उसको चलाने वाला चेतनशक्तिसम्पन्न विशिष्ट व्यक्ति ही कर सकता है। संसार का एक साधारण सा कार्य भी जब बिना चेतन शक्ति के संचालित एवं नियन्त्रित नहीं हो सकता तब तो महाप्रकृति का इतना बड़ा अचिन्तनीय विशाल जड़राज्य बिना किसी चेतन शक्ति की सहायता के कैसे संचालित एवं नियन्त्रित हो सकता है? और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं। जैसे कि पृथ्वी में शस्य उत्पन्न करने की शक्ति है, किन्तु किस देश की किस भूमि

में और किस काल में, कौन सा शस्य उत्पन्न होना चाहिए पृथ्वी इसका निश्चय स्वयं नहीं कर सकती। इसका नियमन करने वाली सब स्थानों में व्याप्त कोई चेतन सत्ता अवश्य होनी चाहिए। इसी तरह मेघ में जल वर्षण की शक्ति है, किन्तु किस देश में, किस ऋतु में कितना जल होना चाहिए इसका नियमन स्वयं मेघ नहीं कर सकता। वायु में प्रवाहित होने की शक्ति है, परन्तु वसन्त ऋतु में मधुर मलय पवन का दक्षिण से संचार, ग्रीष्म में पश्चिम का दिग्दाहकारी प्रचण्ड वायु का प्रवाह, वर्षा ऋतु में मेघमाला को संचारित करने वाली पूर्व की वायु, इसी तरह शीतकाल में हिम के समान ठण्डी उत्तर की वायु का संचार तथा व्यवस्थित रूप से भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न दिशाओं से वायु का नियमानुसार संचार बिना किसी चेतन सत्ता के नियन्त्रण के कदापि नहीं हो सकता।

आक्सीजन एवं हाइड्रोजन गैसों के बीच विद्युत शक्ति को प्रवाहित करने से जल बनता है। परन्तु विद्युत शक्ति स्वयं प्रवाहित नहीं हो सकती बल्कि उसको चलाने के लिए किसी चेतन शक्ति की आवश्यकता है। इसी प्रकार रात्रि के बाद दिन, अमावस्या के बाद पूर्णिमा, शीत ऋतु के बाद ग्रीष्म ऋतु आदि ऋतुओं का ठीक नियमन, भगवान् भुवनभास्कर मारीचिमाली सूर्यनारायण तथा सुधांशु चन्द्रमा का ठीक समय से उदय-अस्त, चन्द्रमा की कलाओं का नियमबद्ध ह्रास एवं वृद्धि, शरीर पर नियमित समय से यौवन और जरा आदि का होना इस बात को स्पष्ट करता है कि जड़ जगत के कार्यों का संचरण व नियमन उसमें अन्तर्निहित चेतन शक्ति ही करती है। इसी प्रकार जड़ कर्मों में फलोत्पत्ति चेतन ईश्वर के अधिष्ठान से ही होती है।

अतः कहना होगा कि सृष्टि के समस्त कार्यों के संचालन हेतु अधिष्ठानस्वरूप चेतन नियामक शक्ति जिसे ईश्वर कहा गया है, वह ही कर्मों के आधार पर शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ फल प्रदान

करते हैं । जिस प्रकार चुम्बक के निकट रहने से लोहे में भी चुम्बकत्व का गुण क्रिया विशेष आ जाता है । उसी प्रकार परम पुरुष परमात्मा के नैकट्य मात्र से ही प्रकृति सृष्टि, स्थिति एवं लय के कार्य करती है ।

वास्तविकता तो ईश्वर के नियमन की है । इसलिए वे कर्त्ता-अकर्त्ता ही हैं । अतः स्पष्ट है कि कर्म जड़ होने से वह स्वयं फल नहीं दे सकता । अपितु नियन्ता चिन्मय ईश्वर की प्रेरणा से ही कर्मफल उत्पन्न होता है और इसी से कर्मानुसार जीव ऊँच-नीच गतियों को प्राप्त करता है । कर्मों की फलोत्पत्ति में ईश्वर निमित्त कारण है ऐसा मानना ही उचित है । अतः कहना होगा - 'परमात्मा किसी के पाप या पुण्य के लिए उत्तरदायी नहीं हैं । वे मनुष्यों के कर्त्तव्य कर्म या कर्मफल भोग आदि कुछ भी नहीं बनाते । अज्ञान द्वारा ज्ञान ढका हुआ है । इस कारण जीव मोहित हो रहे हैं और अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म करते हैं तथा फल भोगते हैं । गीता में लिखा है -

न कर्त्तृत्त्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्म फल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।

स्पष्ट है कि कर्म जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा से उसमें फलोत्पत्ति होती है । भगवान् आदि शङ्कराचार्यजी ने इस विषय में अपने भाष्य में लिखा है कि सृजन कार्य में ईश्वर को मेघ की तरह समझना चाहिए ।

'ईश्वरवस्तु पर्जन्यवद् दृष्टव्यः । यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादि सृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादि वैषम्ये तु तत्तद्बीज-गतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देव

मनुष्यादि सृष्टौ साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादि वैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति । एमवीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनिर्घृण्याभ्यां दुष्यति ।'

जैसे मेघ व्रीहि, यव, धान्य आदि की उत्पत्ति के विषय में साधारण कारण होता है, परन्तु व्रीहि, यवादि की उत्पत्ति जो विभिन्न प्रकार की होती है, उसका कारण मेघ नहीं है । किन्तु उन-उन वस्तुओं के बीजगत असाधारण पृथक्-पृथक् शक्ति ही उसका कारण होती है । ठीक इसी प्रकार देव मनुष्यादि सृष्टि में ईश्वर साधारण कारण हैं । इसमें पृथक्-पृथक् जीवों के पृथक्-पृथक् सुख-दुःख का कारण उनके पृथक्-पृथक् असाधारण कर्म ही होते हैं । एक ही मेघ रसाल में अमृत के समान मीठा रस उत्पन्न करता है और नीम के वृक्ष में तिक्त रस एवं हरीतकी में काषाय रस उत्पन्न करता है । जल तो सभी के लिए समान है, परन्तु उन-उन वृक्षों के पृथक्-पृथक् बीज के अनुसार पृथक्-पृथक् रस वाले फल उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार जड़ कर्म के चलाने में ईश्वर साधारण कारण है और वैचित्र्यपूर्ण फलोत्पत्ति का कारण भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न कर्म ही हैं । श्रुति भी कहती है - '**पुण्यो वै पुण्येन, कर्मणा भवति पापः पापेन ।**' अर्थात् पुण्यमय कर्मों के द्वारा जीव सुखमय पुण्य लोक एवं पाप कर्मों के द्वारा दुःखपूर्ण पाप लोकों को प्राप्त करता है । पुण्य कर्मों के द्वारा पुण्यमय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के शरीर प्राप्त करता है एवं पापमय अशुभ कर्मों के द्वारा पापयोनि रूप चाण्डाल एवं शूकर (सूअर), कूकर (कुत्ते) की योनि प्राप्त करता है ।

अतः कहना होगा कि जीवों के प्राक्तन पाप पुण्य कर्मों के अनुसार ही कर्म के नियामक ईश्वर उसका शुभ-अशुभ फल प्रदान किया करते हैं । अब यदि कोई कहे कि ईश्वर जीवों को उनके

कर्मानुसार शुभाशुभ फल (परिणाम) दिया करते हैं इसलिए इसमें उनकी सर्वशक्तिमत्ता एवं ऐश्वर्य शक्ति नहीं मानी जा सकती । ऐसी शंका उठाने पर समाधान हेतु यह मानना ही होगा कि ईश्वर, जो शुभाशुभ कर्मों का यथा योग्य फल प्रदान करते हैं, यही उनकी सर्वशक्तिमत्ता और ऐश्वर्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है, जो शुभाशुभ कर्मों का यथायोग्य फल प्रदान करते हैं । यदि अग्नि किसी वस्तु को जला सकती है तो यह उसकी दाहकत्व शक्ति का ही प्रमाण है । यथा - राजा में दण्ड देने की शक्ति होती है, इसी से वह दुष्टों को दण्ड दे सकता है और सज्जनों को सम्मान देता है । राजा के अलावा किसी और में यह सामर्थ्य नहीं है, जो यह कार्य कर सके। ईश्वर अनन्त शक्तिशाली एवं अनन्त ऐश्वर्यवान् हैं । इस बात का अनुमान उनके द्वारा यथा योग्य फल प्रदान करने की शक्ति से ही लगता है । उन्हीं की अलौकिक, नियामिका, स्वतन्त्र शक्ति के अधीन कोटि ग्रह-उपग्रह सहित समस्त ब्रह्माण्ड-भाण्ड, अनन्त शून्य में भ्रमण कर रहा है । समस्त देव, ऋषि, पितर, यक्ष, राक्षस, मनुष्य और मनुष्येतर सभी प्राणीमात्र यन्त्रारूढ़ की तरह अनवरत घूम रहे हैं । गीता में भी कहा गया है कि -

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

अर्थात् ईश्वर सभी प्राणियों के हृदयकमल में निवास करते हुए अपनी माया द्वारा सर्व भूतों को यन्त्रारूढ़ की तरह घुमाते रहते हैं। परमात्मा निर्गुण अवस्था में ब्रह्म और सगुण अवस्था में ईश्वर कहलाते हैं । वे ही पुनः सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, पालनकर्त्ता विष्णु और संहारकर्त्ता शङ्कर के नाम से शास्त्रों में जाने जाते हैं । उन्हीं के अखण्ड नियम के अधीन कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, अनन्त ग्रह-उपग्रह, सूर्य और नक्षत्रों के साथ महान् प्रलय के गर्भ से निकल कर प्रकट होते हैं और

सहस्र-सहस्र युग व्यापी स्थिति के काल में उन्हीं की महामहिमा को प्रकाशित करते हैं तथा अन्त में पुनः उन्हीं के अलंघनीय नियम के अनुसार समय पूर्ण होने पर महाप्रलय के काल से महाप्रकृति में विलीन हो जाते हैं ।

वैदिक दर्शनशास्त्रों में ईश्वर का परिचय दिया गया है । न्याय और वैशेषिक पदार्थवाद सम्बन्धी दर्शन में भगवान् को सृष्टि का निमित्त कारण माना गया है । जगत् को देखकर अनुमान लगाया जाता है कि इस जगत् का भी कोई निर्माता अवश्य है । इस प्रकार कर्त्ता के रूप में ईश्वर को जाना गया है । सांख्य और योग दर्शन में प्रकृति की सृष्टि करने वाली एवं पुरुष को उसका दृष्टा प्रतिपादन कर, प्रकृति पुरुष का आश्रय लेकर, अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा ईश्वर को जाना जाता है । मीमांसा दर्शन में जगत् ब्रह्म प्रकृति महामाया का विलास मात्र है, ऐसा कहकर ब्रह्म की सत्यता के साथ व्यापक रूप का प्रतिपादन किया गया है । गुरु कृपा से ईश्वर तत्त्व का बोध अच्छी तरह से हो जाने पर मनुष्य के हृदय में ईश्वर तत्त्व सम्बन्धी कोई शंका ही नहीं रह सकती । ईश्वर तत्त्व को समझने के लिए अपने शास्त्रों का अधिदैव-विज्ञान भी जानना जरूरी है । वेद शास्त्रों में अधिदैव तत्त्वों का सम्यक् वर्णन मिलता है । देवलोक के प्रायः सभी उच्चपदधारी अपने-अपने अधिकार के अनुसार अपने-अपने स्थान पर किसी एक कार्य विभाग का प्रमुखता से नियमन करने के कारण ईश्वर ही कहलाते हैं, क्योंकि वे एक ईश्वर की नियामक शक्ति से प्रेरित होकर निमित्त कारण बनते हैं । यथा पितृलोक के राजा यम यमपुर नामक राजधानी में धर्मराज्य करते हैं एवं जीवों के कर्म के अनुसार शासन व्यवस्था देते हैं । पापियों के लिए दण्डविधान करके किसी को प्रेत लोक, किसी को नरक लोक में भेजते हैं । इसी तरह पुण्यात्माओं को स्वर्ग के सुख-भोग के लिए

नाना दिव्य लोकों में भेजने की सुव्यवस्था करते हैं ।

पुण्यात्माओं को वे धर्मराज के रूप में एवं पापी जीवों को यमराज रूप में दर्शन देकर धर्मशासन व्यवस्था करते हैं । धर्मोपासना अथवा ईश्वरोपासना के द्वारा मनुष्य धर्मराज तक पहुँच सकता है और विविध शुभ गति को प्राप्त कर अपना अभीष्ट भी प्राप्त कर सकता है । देवताओं के राजा इन्द्र भी ब्रह्माण्ड की दैवी व्यवस्था का नियमन करते हैं । इसलिए वे भी ईश्वर कहलाते हैं । अग्नि देव वायु देव आदि सभी बड़े-बड़े पदधारीगण इन्हीं के आज्ञाधीन रहकर अपना-अपना कार्य सम्पादन करते हैं । इस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सृष्टि-क्रिया की व्यवस्था ब्रह्मा जी द्वारा, स्थिति कार्य संचालन पालनीशक्तियुक्त विष्णु द्वारा एवं लय रूप संहार कार्य की सुव्यवस्था भगवान् शिवशङ्कर द्वारा होती है । इसलिए तीनों भी अपने-अपने लोक के ईश्वर कहलाते हैं । एक परब्रह्म परमात्मा ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के शास्ता एवं नियन्ता होने के कारण ईश्वरों के भी ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर आदि कहे जाते हैं ।

कर्म स्वभाव से ही जड़ हैं । इसलिए वे कर्मफल उत्पन्न नहीं कर सकते । मनुष्य अहंकारवश जो कर्म करता है, वे ईश्वर प्रेरणा से यथा समय यथावत् फलोत्पादन करते हैं । जिस कारण मनुष्य अपने कृत कर्मों के अनुसार पाप-पुण्य का भोग नरक एवं स्वर्ग में किया करता है । न्याय (दर्शन) शास्त्र का सूत्र है - '**ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्य दर्शनात् ।**' जीव कर्मों को करने में स्वतन्त्र है ।

परिणाम के विषय में यही एक महत्वपूर्ण बात समझ लेने की है कि मनुष्य जो कुछ भी कर्म कर रहा है वह विचार कर करे । क्योंकि उसका कर्मफल कर्मानुसार ईश्वर की प्रेरणा से अवश्य ही मिलना है । कहीं आवेग में बिना विचारे कोई अनर्थ कार्य न हो जाए कि जिसके लिए बारम्बार पछताना (पश्चाताप करना) पड़े ।

ईश्वर सर्वज्ञ है । उससे कुछ छिपा नहीं रहता । उन्होंने सर्वत्र सर्वकाल अपने देवताओं को शासन व्यवस्था में नियुक्त करके रखा है, जो प्रत्यक्ष वर्णन करते हैं । रात्रि के, दिवस के, मास के, पक्ष के, काल विशेष के और इन्द्रियों के अभिमानी देवताओं से अपने आप यथावत् सर्वविदित हो जाता है । जिससे वे (ईश्वर) अदृश्य रहकर भी जीवों को समुचित कर्मफल यथावत देते हैं तथा अपनी सम्पूर्ण सृष्टि की नियमन व्यवस्था बनाये रखते हैं । परिणाम को दृष्टिगत रखकर कहा भी गया है -

छोटा, बड़ा कि कोई काम कीजे,
परन्तु पूर्वापर सोच लीजे ।
बिना विचारे यदि काम होगा,
कभी न अच्छा परिणाम होगा ।।

तीसरा अध्याय

कर्म

मनुष्य स्वभाव से ही कर्म में प्रवृत्त होता है । वह कभी शान्त नहीं बैठ सकता । उसके मन में किसी न किसी कार्य को करने की इच्छा होती है । इसी इच्छा से प्रेरित होकर वह तत्-तत् कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है । यथा - बचपन में बालस्वभाव के अनुरूप विविध खेल-क्रीड़ा आदि निरर्थक कार्यों में, यौवनावस्था में विषयात्मक काम, क्रोध, लोभ, मोहजन्य प्रवृत्तियों जैसे - विवाह, लड़ाई-झगड़े, धन-सम्पत्ति तथा मोहवश शोक निवारणार्थ तत् सम्बन्धी वस्तुओं के अर्जन आदि के कार्य में एवं प्रौढ़ावस्था में धनोपार्जन आदि विविध वस्तुओं के संचय की प्रवृत्ति में लगा रहता है । अर्थात् धन सम्पत्ति के अलावा सामाजिक क्षेत्र में अपनी आकांक्षा की पूर्ति में लग जाता है । वृद्धावस्था में विविध चिन्ताजन्य कारणों अर्थात् विषयासक्ति के अनुसार पुत्र-पौत्र की, धन की, स्वयं के मरने-जीने और स्वास्थ्य सम्बन्धी, भावी-भूत आदि की चिन्ताओं के निवारण की प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाता है । इस प्रकार अनेक अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में भी तद्नुकूल विचारों से प्रेरित होकर निर्माण व विघटन यथा गृह निर्माण, क्षेत्र निर्माण अथवा उनको बेचने-तोड़ने आदि के विविध कार्यों में संलग्न हो जाता है। भगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी ने भी अपनी 'चर्पटपञ्जरिका' में उद्धृत किया है -

बालस्तावत्क्रीडासक्तः तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ।।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन में देखने-सुनने, उठने-बैठने, सोने-जागने, हँसने-रोने आदि अनेक क्रियाएँ समयानुकूल (समय-समय पर) स्वाभाविक ही करता है । वे भी विहित-अविहित होने पर धर्म-अधर्म हो जाती हैं । गीता में कहा है-

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यं ते ह्यवरः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

अर्थात् मनुष्य बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रहता अपितु प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ कार्य अवश्य करते ही रहता है । अतः कहना होगा कि मानव का सहज स्वभाव उसका कर्म में प्रवृत्त होना है ।

मनोवैज्ञानिकों का उपर्युक्त संदर्भ में कथन है कि मनुष्य में कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिन्हें मूल प्रवृत्तियाँ भी कहा जाता है। इन्हीं मूल जन्मजात प्रवृत्तियों के कारण मानव जीवन भर किसी न किसी कर्म को करने के लिए प्रवृत्त होते रहता है । शास्त्रों के रहस्य पर विचार करने वाले (मर्मज्ञ) मनीषियों का कथन है कि 'मानव का किसी भी कर्म में प्रवृत्त होने का मूलकारण है, उसका संस्कारजन्य-वासनामय अन्तःकरण । प्राणी के अन्तःकरण में जन्मजन्मान्तर से असंख्य प्रकार के वासनामय संस्कार पड़ते रहने से मन में तदनुरूप वासना (इच्छा) जाग्रत होती है जिससे मनुष्य कर्म करने के लिए प्रवृत्त होता है । शुभाशुभ - अच्छे-बुरे जो भी कर्म हैं उन सभी कर्मों में मनुष्य परिस्थिति विशेष में वातावरण व समय के अनुकूल अपनी सामर्थ्यानुसार स्वाभाविक ही बिना विचारे प्रवृत्त हो जाता है। इसलिए कहना होगा कि मनुष्य संस्कारजन्य वासनामय मन से बलात् प्रेरित होकर शुभाशुभ कर्म करता है तथा तदनुरूप कर्मफल (परिणाम) भोगता है । किन्तु विचारवान् पुरुष अच्छी तरह सोच-विचार कर विवेक से कर्म करता है । जिससे उसे अन्त में पश्चाताप नहीं करना

पड़ता । लोक में देखा जाता है कि अधिकांश मनुष्य बिना विचारे इच्छा पूर्ति हेतु मनमाने ढंग से कर्म करने में लग जाते हैं । जिससे उन्हें अनेक बार अत्यन्त अशुभ फल भोगने पड़ते हैं। यह बात समझ लेनी नितान्त आवश्यक है कि मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने के लिए परतन्त्र है । क्योंकि उसे अपने कृतकर्म का फल न चाहते हुए भी बाध्य होकर भोगना ही पड़ता है । इसीलिए शास्त्रों में विधि-निषेध का प्रतिपादन किया गया है । गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।

अर्थात् हे अर्जुन ! तुम्हारा मात्र कर्म में अधिकार है, फलों (फल भोग) में कभी नहीं । इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो ।

यहाँ अधिकार शब्द कर्त्तव्यता का वाचक है ऐसा समझ लेना चाहिए । क्योंकि फलभोग में (अधिकार) कभी नहीं है । ऐसा कहकर यह सिद्ध किया गया कि फल भोग कर्त्तव्य नहीं है, अपितु कर्म करना कर्त्तव्य है । यहाँ कदाचन शब्द का प्रयोग कर स्पष्ट किया गया है कि कर्त्तव्य तो सर्वदा पालनीय होता है, किन्तु अधिकार यदा-कदा कभी प्राप्त होता है तथा अधिकार की वस्तु अथवा पदार्थ किसी से प्राप्त किये जाते हैं । अर्थात् अधिकार प्राप्तव्य ही हैं इसलिए अधिकार की वस्तु का प्राप्त होना दूसरे पर आश्रित होता है । 'मा फलेषु कदाचन' कहकर इस बात पर जोर दिया गया है कि तूँ फल की इच्छा, अपेक्षा आदि मत कर । वह उसकी मर्जी पर है कि उसका फल कब प्रदान करे, क्या प्रदान करे । कर्मों के विषय में कहा गया है कि कर्म करना मनुष्य का कर्त्तव्य है । कर्मफल प्रदान करना ईश्वर पर आश्रित है । अर्थात् यह कहा गया है कि -

तेरा कर्म करना कर्त्तव्य है और कर्मफल देना मेरा अधिकार (विषय) है ।

दूसरे ढंग से भी कर्त्तव्य और अधिकार के विषय में विचार किया जा सकता है । यथा - सिद्धान्त है कि एक का कर्त्तव्य दूसरे के लिए अधिकार बन जाता है, एवं दूसरे का कर्त्तव्य पहले के लिए अधिकार बन जाता है । उदाहरणार्थ माता-पिता की सेवा करना पुत्र का कर्त्तव्य है एवं पुत्र से सेवा लेना माता पिता का अधिकार है । इसी प्रकार पुत्र को बड़ा करना, पढ़ाना-लिखाना, उसे स्वआश्रित कर पैर पर खड़ा करना माता-पिता का कर्त्तव्य होता है और उपर्युक्त आश्रयों को प्राप्त करना पुत्र का अधिकार है । गुरु-शिष्य में, राजा-प्रजा में, सरकार और जनता के मध्य भी इसी प्रकार कर्त्तव्य और अधिकार की बातें लागू होती हैं । यथा - गुरु का अधिकार है कि वह शिष्य से सेवा ले । उससे आज्ञा पालन करने की आशा-अपेक्षा रखे और शिष्य अपना कर्त्तव्य मानकर गुरु की सेवा करे । उनकी आज्ञा का पालन करें । राजा अथवा सरकार का अधिकार है कि वह प्रजा से टैक्स ले तथा प्रजा का कर्त्तव्य है टैक्स दे । प्रजा को रक्षण-सुव्यवस्था देना आदि सरकार कर्त्तव्य होता है तथा सरकार से रक्षण-सुव्यवस्था आदि प्राप्त कर लेना प्रजा का अधिकार है ।

उपर्युक्त आधार पर भी निश्चित होता है कि अधिकार और कर्त्तव्य दोनों पृथक्-पृथक् हैं । अतः अधिकारी अपने अधिकार की मात्र आशा या अपेक्षा ही कर सकता है फिर वह सामने वाले की मर्जी पर है कि वह उसे देगा कि नहीं, अथवा कब देगा, कैसा देगा, कितना देगा आदि बातों को ध्यान में रखकर विचार करने पर उक्त श्लोक का भावार्थ निकलता है कि कर्म करना तुम्हारा अधिकार (कर्त्तव्य) है अमुक फल प्राप्ति की आशा-अपेक्षा रखना तुम्हारा अधिकार कर्त्तव्य कभी भी नहीं है । अभिप्राय यह है कि कर्म करना मनुष्य

का कर्त्तव्य है और कर्म फल (भोग) देना ईश्वर का अधिकार है । अर्थात् मनुष्य कर्म करे, फल तो उसे दे ही दिया जाएगा । विचारणीय विषय केवल इतना ही है कि - जो जैसा कर्म करेगा, भगवान् उसे वैसा ही फल देगा ।

ईश्वर भी कर्मानुसार फल देते हैं । इसलिए किसी विशिष्ट फल भोग की आशा अपेक्षा रखना कि मुझे अमुक फल, अमुक वस्तु अथवा अमुक प्रकार का ही सुख मिले आदि अपेक्षा करना व्यर्थ है क्योंकि कर्मानुसार ईश्वरेच्छा से फल प्राप्त होते हैं । तब तो कहना होगा कि मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है परन्तु कर्मफल भोग भोगने के लिए बाध्य होने से परतन्त्र है । अमुक कर्म करने का अमुक परिणाम होता है यह बात निश्चित ही है । इस कारण से परिणाम में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । अतः मनुष्य जो कर्म करना चाहे सो कर सकता है । वह उसकी इच्छा अनुसार कर्म करने को स्वतन्त्र है, किन्तु उन कर्मों का परिणाम (फल) निश्चित होने से उनमें परिर्वतन नहीं कर सकता, इसलिए कर्मफल भोग हेतु बाध्य होने से परतन्त्र है । यथा कृषक अपनी इच्छा अनुसार कोई भी बीज बो सकता है । इस बात की उसे स्वतन्त्रता है, किन्तु तत्-तत् बीज से तत्-तत् वृक्ष व फल प्राप्त होना निश्चित ही है। तब तो परिवर्तन असम्भव होने से बाध्य होकर तत् वृक्ष व फल प्राप्त करना ही होगा । यही परतन्त्रता है ।

इस विषय में कुछ लोग ऐसा तर्क प्रस्तुत करते हैं कि **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन'** का अर्थ है - कर्म में ही अधिकार है, फलों में कभी नहीं । अर्थात् कर्म करो, किन्तु फल (परिणाम) के विषय में विचार भी मत करो क्योंकि उसमें अपना अधिकार नहीं है । ऐसा कहकर शंका उठाते है कि परिणाम (फल) का विचार किये बिना कर्म करने को कहा है । क्योंकि कर्मफल में

कभी भी अधिकार नहीं है अर्थात् कर्मफल छोड़कर कर्म करने को कहा है । अतः कर्मफल (परिणाम) के विषय में विचार किये बिना कर्म करने पर उचित अनुचित का निर्णय न होने से शुभ-अशुभ कर्मों की पहचान नहीं हो सकेगी । इसलिए कर्मफल त्याग करने की बात ठीक नहीं है । इस शंका के समाधान हेतु कुतर्कियों को यहाँ इस बात का विचार करना चाहिए कि इस संदर्भ में कर्मफल (परिणाम) के विषय में विचार करने को मना नहीं किया है अपितु कर्मफल में जो स्पृहा है उसके लिए मना किया है । क्योंकि **'मा फलेषु कदाचन'** एवं **'मा कर्मफल हेतुर्भूः'** ऐसा दो बार पुनरुक्ति कर कर्मफलों की स्पृहा का ही निषेध किया है ।

अतः कर्म करें किन्तु कर्मफल की आशा अथवा अपेक्षा न रखें अपितु किसी कर्म का परिणाम क्या होगा, आदि बातों का शास्त्रवचनानुसार विचार कर कर्म करें । वृक्ष किसका लगाना है? और किसका लगाया जा रहा है? आदि बातों का विचार कर तदनुसार वृक्ष अथवा बीज लगाने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है किन्तु उसमें जो फल लगना चाहिए वे निश्चित हैं । उनमें परिवर्तन नहीं होना है । इस विषय में कहावत भी है -

'बोया बीज बबूल का, आम कहाँ से होय ।' अतः मनुष्य को सोच-विचार कर ही (शास्त्रविहित) कर्म करना चाहिए । बिना विचारे मनमाने ढंग से किसी भी कर्म को शीघ्रता अथवा काम, क्रोध, लोभ या मोह के आवेग से नहीं करना चाहिए । कोई भी ऐसा कर्म हमसे न हो, जिसके कारण हमें लोक-परलोक में कष्ट भोग करते हुए पछताना पड़े ।

ऋषि-मुनि, महर्षि-मनीषियों ने मनुष्यों के सदसत् विचार के लिए शास्त्रों का विधान बताया है । क्या उचित है, क्या अनुचित है। प्रपंच में स्थित सभी वस्तुओं के गुण अवगुणों का विस्तार से विवेचन

इन शास्त्रों में किया गया है । कहा है कि विधाता ने इस सम्पूर्ण प्रपंच (संसार) को गुणों और अवगुणों से युक्त बनाया है । यहाँ सब कुछ विद्यमान है । यथा - पाप-पुण्य, सुकर्म-कुकर्म, ऊँच-नीच आदि। कविकुल चूड़ामणि संतश्री तुलसीदास जी के शब्दों में -

कहहिं वेद इतिहास पुराना । विधि प्रपंच गुन-अवगुन साना ।।
दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-राती । साधु-असाधु, सुजाति-कुजाती।।
दानव, देव ऊँच अरु नीचू । अमिय सुजीवनु माहुर मींचू ।।
माया ब्रह्म जीव-जगदीशा । लच्छि, अलच्छि रंक अवनीशा ।।
काशी मग सुरसरि क्रम नासा । मरु मारव महि देव गवासा ।।
सरग-नरक, अनुराग- विरागा । निगमागम गुण-दोष विभागा ।।

अर्थात् विधाता की यह सृष्टि गुण-अवगुणों से युक्त बनी हुई है । वेद, इतिहास, पुराणों आदि में कहा है कि - दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रात, साधु-असाधु, सुजाति-कुजाति, दानव-देवता, ऊँच-नीच, अमृत-विष, सुजीवन (सुन्दर जीवन)-मृत्यु, माया-ब्रह्म, जीव-ईश्वर, सम्पत्ति-दरिद्रता, रंक-राजा, काशी-मगध, गंगा-कर्मनाशा, मारवाड़-मालवा, ब्राह्मण-कसाई, स्वर्ग-नर्क, अनुराग-राग-वैराग ये सभी ब्रह्मा की सृष्टि में हैं; किन्तु वेद-शास्त्रों ने उनके गुण-दोषों का विभाग कर दिया है। ताकि विवेक का आश्रय लेकर निर्णय लिया जा सके । इसलिए अच्छा-बुरा अथवा उचित-अनुचित का निर्णय वेद-शास्त्रों से लेना चाहिए । नीति का भी वचन है कि मनमाना आचरण (कर्म) करने वाला पशु और शास्त्रानुसार विधि-निषेध का विचार कर, विवेकपूर्ण व्यवहार, आचरण व कर्म करने वाला मनुष्य होता है । जिस प्रकार लोक में राजा द्वारा शासन किया जाता है उसी प्रकार मानव की उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करने के लिए शास्त्र द्वारा भी शासन किया जाता है ।

ऋषि-मुनि, मनीषि, योगवेत्ता महर्षि आदि ने अपनी तपस्या,

त्याग और योगजन्य प्रज्ञा के द्वारा लोक-परलोक की सूक्ष्मातिसूक्ष्म योनियों का ज्ञान तथा तद्विषयक पारमार्थिक ज्ञान एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रहस्यमय ज्ञान प्राप्त किया । तदुपरान्त योगसाधना से अपने अन्तःकरण को निर्मल करके दिव्य चक्षु एवं अमित प्रज्ञा की अवधारणा के माध्यम से सम्यक् विचार किया । पश्चात् लोक में सभी के कल्याण को दृष्टिगत रखकर मानव के लिए शास्त्र का विधान किया गया है । इन्हें धर्मशास्त्र कहा जाता है । समस्त मानवों के स्वभाव को दृष्टिगत रखकर इन धर्मशास्त्रों का विधान किया गया है । इनके द्वारा धर्ममय शासन होता है, क्योंकि शास्त्रों में कर्म-अकर्म, सुकर्म-कुकर्म, सद्कर्म-असद्कर्म, धर्म-अधर्म के नाम से पाप-पुण्य और उनके परिणाम सुख-दुःख का सम्यक् विवेचन किया गया है ।

शास्त्रों के इस विवेकमय, विधि-निषेध वाले ज्ञान को जानकर तदनुरूप कर्म करने वाला मनुष्य है । मनुष्य का प्रथम लक्षण यही आचरण ज्ञान है । मनुष्य में यदि यह ज्ञान (विचार) न हो तो मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता है । क्योंकि आहार-विहार आदि चेष्टाएँ जैसी मनुष्यों में होती है, वैसी ही दूसरे प्राणियों में भी देखी जाती हैं, मात्र धर्म ही एक ऐसा लक्षण है, जिसके कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न होता है । कहा है-

आहार निद्राभय मैथुनं च,
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेणहीनः पशुभिस्समानः ।।

अतः मनुष्य के द्वारा धर्माचरण व्यवहार होना अत्यन्त आवश्यक है तथा धर्माचरण के लिए उपर्युक्त प्रकार का विवेकमय ज्ञान होना भी आवश्यक है । सद्कर्म शास्त्र विहित होने के कारण धर्म माने

जाते हैं। नीतिकारों ने भी नीति के तीन विशिष्ट नियमों को माना है। ये नियम धर्ममय होने से सभी के लिए हितकारक है। यथा - नीति का प्रथम नियम है कि सदा सत्य बोलें, परोपकार करें और सत्कर्म करें। द्वितीय नियम निषेधात्मक वाक्यों में है। जैसे - असत्य न बोलें। किसी को कष्ट न पहुँचायें, अशुभ कर्म न करें आदि। नीति का तीसरा नियम है कि यदि सत्य न बोल सकें, तो असत्य भी न बोलें। यदि हम किसी का भला न कर सकें तो बुरा भी न करें, यदि उपकार न कर सकें तो अपकार भी न करें। इस प्रकार मनुष्य के स्वभावानुसार साधारण और विशेष धर्माचरण के साथ नीतियुक्त वाक्यों से नियमन होता है। ये नियम स्वतः के लिए एवं दूसरों के लिए भी, लोक-परलोक में सुखदायी है।

किन्तु आज वर्तमान में मनुष्य अपने मनुष्यत्व को भूलकर तथा वास्तविक लक्ष्य से हटकर लोक-परलोक का विचार किये बिना ही अपनी इच्छापूर्ति हेतु मनमाने ढंग से कलहपूर्ण व द्वेषयुक्त तथा अन्याय, अनीति और असदाचरण से युक्त अनेक अमानवीय घृणित कृत्यों (कर्मों) को कर रहा है। इस प्रकार वह मात्र इन्द्रिय सुख के लिए उन्मत्त सा आचरण कर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव में भौतिकवादिता के कारण बाह्य इन्द्रिय सुखों की ओर द्रुतगति से भागा जा रहा है। सर्वत्र स्पर्द्धा की भावना की पूर्ति के लिए अभाव का हाय-हाय शब्द सुनाई दे रहा है। चारों ओर तृष्णा हाथ फैलाये खड़ी है। मानव दानव सा बन बैठा है। मनुष्य दूसरों को दुःखी करके भी स्वयं सुखी होना चाहता है। स्वयं को सुखी बनाने अथवा अपनी इच्छा पूर्ण करने में यदि दूसरों को कष्ट देना पड़े अथवा कत्ल भी करना पड़े तो बिना किसी परवाह के मनुष्य आज घृणित कुकृत्यों को करने को तैयार है। इन समस्त अनैतिक-अन्यायपूर्ण घृणित कुकृत्यों का मूल कारण है - धर्म और अध्यात्म

से हटकर ईश्वर को भूल जाना, हमारे भी ऊपर कोई शास्ता है जो हमारे किये (करणी) पर मूल्यांकन करके हमें दण्ड देगा आदि बातों को भूल जाना । प्रत्यक्ष में जो दिख रहा है उस पर तनिक विचार भी न करना, तत्काल में जो स्वयं को अच्छा अथवा सुखद लगे उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक आदि के कारण राग-द्वेष के तीव्र प्रवाह में होश भूलकर जोश अथवा आवेग के साथ अधीरतापूर्वक बिना विचारे करना । मनुष्य अपनी आँखों के सामने देख रहा है कि प्राणी अपने किये का फल अनेक प्रकार से भोग रहे हैं । तो भी सृष्टि के नियामक ईश्वर की सत्ता व नियम की उपेक्षा करके बिना विचारे विवेकभ्रष्ट होकर अनैतिक निषिद्ध कर्म कर रहा है । यद्यपि स्वयं के साथ कोई वह व्यवहार करे, यह वह नहीं चाहता। परन्तु स्वयं दूसरों के साथ वह व्यवहार कर रहा है । इस प्रकार '**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**' के सिद्धान्त की अवहेलना कर रहा है ।

ईश्वर कृतकर्मों के फलदाता हैं । उन्होंने कर्मानुसार कर्मफल प्रदान करने के लिए अपनी शासन (नियमन) व्यवस्था में यमराज और उनके सहयोगी दूत-सहचरों आदि के सहित विविध, दिवस-रात्रि इन्द्रियों आदि के अभिमानी देवताओं को नियुक्त कर रखा है। इसका वर्णन यम संदेश के नाम से उद्धृत किया जा रहा है। इस सारगर्भित अंश पर पाठक मनन करें ।

यम संदेश - 'यमराज का संदेश है कि जो सज्जन हैं, भक्त हैं, सदाचारी हैं तथा अपना शासक गुरु और शास्त्र को ही मानते हैं। राजा का शासन उन पर नहीं होता । राजा उनका सेवक होता है। रक्षक होता है । इसलिए शास्त्र अथवा गुरु के द्वारा उनमें उच्छङ्खलता का नियन्त्रण हो जाता है । तदनुरूप सदसत् के विवेक के साथ शुभ कर्म करने से वे लोक-परलोक में शुभ गति प्राप्त

करते हैं । राजा दुष्टों, दुराचारियों, हिंसकों, चोरों एवं डाकुओं का शासक होता है ।

आज प्रजातन्त्र में सरकार द्वारा शासन किया जाता है । इस शासन व्यवस्था में प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायाधीश (मजिस्ट्रेट) होता है, जो अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देता है तथा उन्हें दण्ड भुगतना पड़ता है । जो इनसे बच जाते हैं अथवा जो छिपकर पापकर्म (निषिद्धकर्म) करते हैं उनका शासन यमराज करते हैं ।'

गुरुरात्मवतां शास्ता, राजाशास्ता दुरात्मनाम् ।
तथा प्रच्छन्न पापानां, शास्ता वैवस्वतो यमः ।।

(यम संदेश से)

कहा जाता है कि यमराज के यहाँ पुण्यात्मा भी जाते हैं और पापी भी । पुण्यात्माओं के बैठने के लिए सिंहासन होते हैं, उन पर वे आदरपूर्वक बैठाये जाते हैं । पापी लोग एक पंक्ति में खड़े रहते हैं । यमराज जब वहाँ पधारते हैं तो पहले पुण्यात्माओं से यह निवेदन करते हैं - 'महात्माओं ! आप लोगों ने नरकों के क्लेश से डरते हुए पुण्यकर्म किए हैं । इसलिए अपने कर्मों के प्रभाव से आप लोग उत्तम-उत्तम लोकों को जाइए । इसमें हमारी कोई दया नहीं है।' ऐसा कहकर पुण्यात्माओं को उनके कर्मानुसार उत्तम-उत्तम लोकों में भेज देते हैं । पुण्यात्माओं को धर्मराज के रूप में तथा पापियों को विकराल यमराज के रूप में दर्शन देते हैं । वे यमराज पापियों पर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं - 'अरे पापियों ! दुराचारियों ! तुमने मूर्खतावश अविवेक से अपने को ही पीड़ा पहुँचाने वाले कर्मों को किया है ।'

रे रे पापा दुराचारा, युष्माभिरविवेकिभिः ।
अहोकृतानि पापानि, आत्मपीडाकराण्यपि ।।

(यम सन्देश से)

यमराज कहते हैं - 'मैं पुण्यात्माओं का हितैषी हूँ और पापियों को दण्ड देने वाला हूँ । क्या ये बात तुमने अपने कानों से नहीं सुनी? असहनीय दुःखों को देने वाले अट्ठाईस प्रकार के नरक हैं। पापी लोग उनमें भेजे जाते हैं । क्या इस बात को तुमने नहीं सुना था ? सुना तो होगा पर उस समय उसे मिथ्या मानते रहे होगे ! तभी तो पापकर्म किये हो ।' ऐसा सुनकर उनमें से कुछ पापी लोग अभिमानपूर्वक कहने लगे - 'हे आदित्यनन्दन ! हमने जो पाप किये हैं उसे आपसे किसने कहा है ? यह सब झूठ है । हमने पहले जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किये हैं उनको किसने देखा है? उसको आप हमें बताएँ ।' यमराज ने कहा - 'तुम लोग हमारे सामने भी धृष्टता करते हो । ऐसा कहकर यमराज ने उनके शरीर में स्थित इन्द्रियों के देवता तथा रात्रि, दिन, पक्ष, मुहूर्त आदि अभिमानी तत् अधिष्ठातृ देवताओं से कहा कि 'आप लोग प्रकट होकर के इनके दुष्कर्मों का वर्णन करें ।' ऐसा कहते ही इन्द्रियादि के अभिमानी अधिष्ठातृ देवता प्रगट हो गये और कहने लगे 'तुमने अमुक समय अमुक अशुभ कर्म किया है । तुमने अमुक व्यक्ति की हत्या अमुक समय की है । अमुक व्यक्ति की अमुक वस्तु की चोरी अमुक समय की है ।' आदि-आदि स्पष्ट कर देने के पश्चात् यमराज ने सब पापियों को उनके कर्मानुसार पृथक्-पृथक् नरकों में भेज दिया ।

कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई झूठ बोलकर, सिफारिश कराकर अथवा वकीलों के वाक्जाल द्वारा लोक में दण्ड से बच भी जाता है तो छिपकर पाप आदि कुकर्म करने वाला वह पापी यमराज के दरबार से बच नहीं सकता ।

मनुष्य अपने अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप ईश्वर की प्रेरणा से अनेक विसंगतियों एवं दुर्योगों के साथ विपरीत वातावरण में विविध कष्टमय यातनाओं को भोगने के लिए अनेक योनियों को प्राप्त

करते हुए पुनः-पुनः शरीर प्राप्त करता है । शास्त्रों का कहना है कि चौरासी लाख योनियों में भटकते-भटकते जब जीव परिश्रान्त होकर विकल हो जाता है तब अकारणकरुण, करुणावरुणालय परब्रह्म परमात्मा (ईश्वर) की अहैतुकी कृपा से जीव को मनुष्य शरीर प्राप्त होता है ।

कबहुँक करुणा करि नर देही ,
देत ईश बिनु हेतु सनेही ।

अतः ईश्वर की अहैतुकी कृपा से सुदुर्लभ मनुष्य शरीर को प्राप्त कर अशुभ कर्म से बचना चाहिए । अपने ऊपर कोई है जो हजारों आँखों से देख रहा है, हजारों कानों से सुन रहा है, वह हजारों हाथ वाला दण्ड भी दे सकता है । उससे छिपाकर कुछ रखा नहीं जा सकता है । इस बात को भूलना, उपेक्षा करना अथवा न मानने के कारण मनुष्य विविध अनैतिक, अन्यायपूर्ण असदाचरण एवं कुकृत्य-भ्रष्टाचार आदि कर रहा है । आज मनुष्य जेलों की हवा खाने आदि दण्ड भोगने के बाद और भी अधिक साहस के साथ उत्तरोत्तर जघन्य पापमय अशुभ कर्मों को करने लगता है । उपर्युक्त अवधारणा के आधार पर ही, उच्चस्तर का व्यक्ति भी निम्नतम एवं निन्दनीय आचरण करते नजर आ रहा है। कर्त्तव्य को भूलकर अधिकारपूर्वक मनमाना व्यवहार-आचरण कर रहा है ।

कौन देखता है ? किसे मालूम होगा ? इस प्रकार की भावना एवं विचार के साथ आज का सभ्य कहलाने वाला नागरिक (व्यक्ति) अथवा समाज (रिश्वत घोटाला आदि) भ्रष्टाचार, अनाचार, व्यभिचार चोरी-डकैती, हिंसा अथवा त्रास पहुँचाना आदि अन्यायपूर्ण कर्मों में अनवरत तत्परता से लगा हुआ है । सर्वत्र (बहुतायत में) असदाचरण का नंगा नृत्य दृष्टिगोचर हो रहा है । सभी सुख-शान्ति चाहते हैं, परन्तु जिन कर्मों से सुख-शान्ति मिलनी है । वे उन कर्मों को नहीं

करते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है कि -

'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता ।'

अर्थात् - मूढ़ लोग सुख तो चाहते हैं, किन्तु धर्माचरण में मन नहीं लगाते । अन्यत्र भी कहीं कहा है- **पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।**अर्थात् मनुष्य पुण्य का फल तो चाहता है परन्तु पुण्य करना नहीं चाहता ।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है । वह चाहे तो पूर्ण आत्मबल के साथ पुनः नये सिरे से विचार (विवेक) पूर्वक नये शुभ कर्म कर सकता है । वह मात्र कर्मों के परिणाम भोगने में परतन्त्र है । कर्मफल भोगने को विवश है । कर्म (कर्मफल) जीव के पीछे ऐसे लग जाते हैं जैसे मधुमक्खी छेड़ने वाले के पीछे लग जाती है । फिर वह कहीं भी जाए, बिना काटे उसका पीछा छोड़ नहीं सकती । इसी प्रकार कर्म भी जीव को फलभोग दिये बिना छोड़ नहीं सकते ।

शास्त्रों में कहा है कि कर्मफल भोगने से अथवा प्रायश्चित्त करने से शान्त हो जाते हैं । ज्ञानियों की दृष्टि में कर्म होता ही नहीं, इसलिए उनके लिए कर्म भुने चने की तरह अंकुरित नहीं हो पाते ।

विद्वानों ने कर्मों के विषय में अनेक प्रकार से विवेचन किया है । किसी न किसी रूप में सभी ने यह माना है कि मनुष्य द्वारा जो भी किया जाता है वह कर्म कहलाता है । यद्यपि व्याकरण में कारक प्रकरण के अन्तर्गत कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है । क्रिया को करने वाला कर्त्ता होता है। जिससे किसी कार्य का करना या होना पाया ज़ाय उसे क्रिया कहते हैं तथा क्रिया के द्वारा कर्त्ता जिसको करता है, उसे कर्म कहते हैं। यथा - 'ग्वाला गाय दुहता है ।' इस वाक्य में ग्वाला कर्त्ता है, गाय

कर्म है, दुहता है क्रिया है । दुहना क्रिया द्विकर्मक है । इसलिए उक्त वाक्य में दूध दुहता है यह भाव अन्तनिर्हित होने से दूध भी कर्म है। कर्म कारक की विभक्ति को कहते हैं । '**कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म**' कहा गया है । अर्थात् कर्त्ता जिसको (व्यक्ति, वस्तु या क्रिया को) विशेष रूप से चाहता है उसे कर्म कहते हैं । अभिप्राय यह है कि कर्त्ता के व्यापार से उत्पन्न होने वाले फल का जो आश्रय हो अथवा कर्त्ता अपनी क्रिया के द्वारा मुख्य रूप से जिसे प्राप्त करना चाहे उसे कर्म कहते हैं । उपर्युक्त वाक्य में ग्वाला गाय से दूध को दुहता है । यह भाव छिपा हुआ है । अतः गाय और दूध दोनों ही कर्म है । कर्म-विपाक में क्रिया कर्म का मिश्रित रूप में प्रयोग किया जाता है । जिससे जनसामान्य क्रिया को ही कर्म समझते हैं । यथा- 'अमुक ने हत्या कर दी' अथवा 'जान से मार डाला ।' इस वाक्य में हत्या करना अथवा जान से मारना क्रिया को कर्म रूप में व्यवहार में समझा जाता है और कहा जाता है कि अमुक ने हत्या करने अथवा जान से मारने का अशुभ कर्म किया । यह अशुभ (पाप) कर्म क्रिया है । यहाँ यह आरोपण समझ लेना चाहिए कि मनुष्य अन्तःकरण के क्रोधजन्य द्वेष प्रतिशोध आदि वासनामय भावों से प्रेरित होकर उक्त कर्म करता है । अतः ये भाव कर्म रूप में छिपे होने से द्विकर्म से व्यवहार में आते है और क्रिया में कर्म का आरोपण करके कहा जाता है कि अमुक ने अमुक शुभ अथवा अशुभ कर्म किया । कहना होगा कि संस्कारजन्य प्रबलवासनामय अन्तःकरण की प्रेरणा से जो कुछ भी किया जाता है वह कर्म कहलाता है । उक्त अंश में संस्कारजन्य भाव राग-द्वेष हैं । प्रबल वासनामय के आश्रयगत भाव काम, क्रोध, आदि हैं । जिनके कारण अन्तःकरण में स्नेह या प्रतिशोध को लेकर तीव्र प्रेरणा होती है और व्यक्ति तत्-तत् कर्मों को करने में लग जाता है ।

इस प्रकार किसी को जान से मारने की क्रिया में द्वेषजन्य प्रतिशोध एवं क्रोधादि का भाव अन्तर्निहित होता है । अब किसी भी कर्म में प्रवृत्ति होने के विषय में विचार करें तो पता चलता है कि क्रिया में भावनाजन्य आश्रयगत भावों के सन्निहित होने के कारण क्रिया में कर्म का आरोपण हो जाता है । जिससे लोक में क्रिया को ही कर्मरूप में व्यवहृत किया जाता है और कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने अमुक कर्म किया । राग-द्वेष आदि के संस्कार के कारण अन्तःकरण में काम, क्रोध, लोभ और शोक-मोह के भाव को लेकर स्नेह-प्रेम, प्रतिशोध, स्वार्थ और अविवेकजन्य अनेक प्रेरणाएँ तीव्र, तीव्रतर एवं तीव्रतम समुद्र की तरंगों की तरह छोटी-बड़ी क्रम से उठती रहती हैं । जिसके कारण मनुष्य शुभाशुभ कर्म करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है ।

इस प्रकार सत्वगुण से युक्त संस्कारजन्य अन्तःकरण में अनेक सद्भावों को लेकर प्रेरणा होती है । शुभ कर्मों को करने की प्रवृत्ति होती है एवं रजस्-तमस् से युक्त संस्कारजन्य अन्तःकरण में असद्भावों को लेकर अशुभ कर्मों को करने की प्रेरणा तथा तदनुरूप कर्मों में प्रवृत्ति होती है । संस्कारजन्य अन्तःकरण जीव के सूक्ष्म शरीर के साथ होता है एवं स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर होता है । अतः शरीर इन्द्रियों आदि से किये गए शुभाशुभ कर्मों का फल स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर के माध्यम से भोगने में आता है । जिस प्रकार स्वप्नावस्था में देखे गए स्वप्नजन्य सुख या दुःख का अनुभव अन्तःकरण के कारण स्थूल शरीर में स्थित सूक्ष्म शरीर में होता है उसी प्रकार कृत कर्मों का फल सुख-दुःख के रुप में अन्त;करण के कारण सूक्ष्म शरीर के माध्यम से, अनुभव में आता हैं । मनुष्य शरीर से जो भी कर्म करता हैं वे सब अहंता-ममता के साथ होतें हैं इस कारण उनके कर्म भी अहंता ममता वाले शरीर से भोगने में

आते हैं । अहंता ममता के कारण अपने-आपको किसी कर्म का कर्त्ता एवं सुख-दुःख का भोक्ता मानने से मनुष्य में जीवत्व भाव आ जाता है, जिससे सुख दुःख का अनुभव होता हैं ।

बतलाया जा चुका है कि जीवत्व भाव में अन्तःकरण के साथ जीव का सूक्ष्मशरीर होता है और अन्तःकरण में विविध भावनाएं तरङ्गवत् परिस्थिति एवं परिवेशानुसार उठती तथा विलीन होती रहती हैं । अन्तःकरण की भावना के अनुसार ही कर्म, अकर्म बन जाते हैं । भावना के कारण ही कर्म विहित-अविहित होने पर तदनुसार धर्म-अधर्म और पाप-पुण्यमय बनकर सुख-दुःख पहुँचाते हैं ।

सुख और दु;ख के संदर्भ में विद्वान् मनिषियों का कथन हैं कि अनुकूल परिवेश-वातावरण या वस्तु का मिलन अथवा प्रतिकूल का वियोग ही सुख है । यही सुख का लक्षण है । इसी तरह प्रतिकूल परिस्थिति का होना या प्रतिकूलता का संयोग अथवा अनुकूलता का वियोग होना दुःख है । ये सुख-दुःख तो शुभ-अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप मनुष्य को किसी भी जगह, किसी भी काल में, किसी भी रूप में प्राप्त हो जाते हैं । कर्म क्रिया से आबद्ध होने के कारण क्रिया, कर्म और कर्मफल मिश्रित से जान पड़ते हैं । उदाहरणार्थ- 'अमुक व्यक्ति ने अमुक कर्म से अमुक लक्ष्य प्राप्त किया' ऐसा कहकर उसे लोक व्यवहार में लाया जाता है । इस आधार पर मनुष्य अपने आपको अमुक क्रिया का कर्त्ता मान लेता है । जिससे कर्तृत्त्व के अभिमान (अहंकार) के कारण उसे अमुक कर्मफल का भोक्ता भी बनना पड़ता है । कर्त्तापन की भावना अन्तःकरण की है तथा तत् सम्बन्धी विविध भाव भी संस्कारजन्य अन्तःकरण की प्रबल वासना से प्रेरित होकर कर्म करने अथवा कर्मों में प्रवृत्त करते हैं । इसलिए कर्म के विषय में कहना होगा कि- मनुष्य जो भी क्रिया अन्तःकरण की भावना के साथ करता है, वही कर्म है ।

अब विचार करना है कि मनुष्य के द्वारा किया कर्म उसकी भावना के अनुसार धर्म-अधर्म बन जाता है । यहाँ तक कि मनुष्य का उठना-बैठना, बोलना-चलना, खाना-पीना, देखना-सुनना आदि उसकी भावना विचार के अनुसार धर्ममय अथवा अधर्ममय बन जाते हैं । शास्त्रविहित कर्म धर्ममय होने से धर्म और शास्त्र अविहित कर्म अधर्ममय होने से अधर्म कहे जाते हैं । शास्त्र विहित-अविहित का अर्थ है - शास्त्र जिन कर्मों को करने का विधान करते हैं अर्थात् जिन कर्मों को करने के लिए शास्त्र कहते हैं, वे हैं शास्त्र विहित कर्म और शास्त्र जिन कर्मों को करने का निषेध करते हैं, वे हैं शास्त्र अविहित कर्म ।

शास्त्रों में असत्य व अकर्त्तव्य अन्याय तथा असदाचार का निषेध किया गया है और सत्य, न्याय, सदाचार तथा कर्त्तव्य के पालन करने का विधान किया गया है । शास्त्रविहित अविहित कर्मों को करने में भावना बुद्धि को प्रधानता दी गयी है तथा कहा गया है - कौन किस भावना बुद्धि से क्या कर्म कर रहा है ? इस मान्यता के आधार पर ही धर्म-अधर्म का समुचित निर्णय किया जा सकता है । यथा - शास्त्र विहित विधान यह है कि सत्य बोलें, परोपकार करें, दीन दुःखी-असहाय की सेवा करें आदि । अब सत्य बोलने के उदाहरण पर ही विचार करते हैं - सत्य-प्रिय बोलना धर्म है ।

मनुष्य यदि सत्य एवं प्रिय बोलता है तो उसका बोलना धर्ममय हो जाता है यदि असत्यादि बोलता है तो अधर्म हो जाता है । जीभ को हिलाकर भगवान् के पावन अथवा कल्याणकारी, सलाह, उपदेश आदि के वचन बोल दिया तो बोलना ही धर्म हो जाता है। उसी जीभ से किसी की निन्दा कर दी, अथवा कटु बचन बोल कर किसी के हृदय को आघात पहुँचा दिया तो बोलना ही अधर्म हो

जाता है । किसी के प्राणों की रक्षा करने की भावना बुद्धि से असत्य भी बोल दिया जाय तो वह धर्म हो जाता है । विषयी लोगों की अथवा दुराचारियों की निन्दा, कटु आलोचना आदि करके किसी को सदाचरण में लगा दिया जाय तो वह भी धर्म हो जाता है ।

दूसरा उदाहरण परोपकार का लेते हैं । मनुष्य यदि निःस्वार्थ भावना या बुद्धि से अपना कर्त्तव्य (धर्म) समझकर परोपकार करता है तो वह धर्म हो जाता है । वही परोपकार यदि कोई अपेक्षा रखकर अथवा स्वार्थ बुद्धि से, अपने किसी लाभ की भावना से किया जाता है, तो वह अधर्म हो जाता है । यथा - अपने घर में पशु-पक्षियों को सेवा भावना से भोजन देना धर्म है । इसी प्रकार मुर्गा-मुर्गी अथवा बकरा-बकरी आदि को काटकर उनका मांस बेचने-खाने आदि की भावना के साथ उन्हें उनका भोजन देना, पालन-पोषण व रक्षण करना आदि अधर्म है ।

तीसरा उदाहरण दीन-दुःखी की सेवा का लेते हैं । किसी असहाय महिला अथवा दीन-दुःखी व्यक्ति की सेवा करने के पीछे यदि यह भावना है कि बाद में यह मेरे अमुक काम आएगा अथवा मैं इसका अमुक उपयोग करूँगा, इस प्रकार की भावना से की गयी सेवा अधर्म है और यदि यह मानकर सेवा किया कि सभी प्राणियों में एक परब्रह्म परमात्मा का निवास होता है । अतः उन दीन-दुःखी और दरिद्र, असहाय मनुष्यों की सेवा करने से उनमें स्थित परमात्मा प्रसन्न होंगे । ऐसी भावना से सेवा करना सेवा धर्म हो जाता है।

भावना या बुद्धि के आधार पर एक ही प्रकार का कर्म पाप-पुण्य अथवा धर्म-अधर्म हो जाता है । इसके और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं । मान लो कोई व्यक्ति (चिकित्सक आदि) किसी नारी के रोग निदान - चिकित्सा आदि की भावना से, उसके किसी अंग विशेष का अवलोकन, स्पर्शादि करता है तो रोग निदान की सेवा

भावनामय होने के कारण वह सद्कर्म धर्म हो जाता है । यदि कामुकता व्यभिचार आदि की भावना से नारी के अंगों का अवलोकन, स्पर्श आदि करता है तो अविहित कर्म होने से वह अधर्म हो जाता है । इसी प्रकार रोग चिकित्सा की भावना से किसी को बेहोश करके रोग सम्बंधी किसी अंग विशेष को काटना धर्म है तथा चोरी-डकैती आदि की भावना से किसी को बेहोश करके उसके हाथ-पैर आदि अंग विशेष को काटना अपनी इच्छा पूर्ति रूपी स्वार्थमय भावना के कारण अधर्म है । इसी प्रकार अन्य और भी कर्मों के विषय में विचार किया जा सकता है । सद्भावना के साथ किसी भी कर्म में प्रवृत्त होना शुभ कर्म करना कहलाता है । शुभ कर्म धर्ममय होने से पुण्य कर्म भी कहलाते हैं। दुर्भावना-दुर्विचार के साथ उसी कर्म को करना अशुभ कर्म करना कहलाता है । अशुभ कर्म अधर्ममय होने से पाप कर्म भी कहलाते हैं ।

कहा जा चुका है कि सूक्ष्म शरीर में अन्तःकरण की प्रधानता होती है । जीव अन्तःकरण के साथ सूक्ष्म शरीर से आबद्ध होकर स्थूल शरीर में रहता है एवं स्थूल शरीर से निकलने के पश्चात् सूक्ष्म शरीर में निवास करता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के पन्द्रहवें अध्याय में जीव के उत्क्रमण करने का वर्णन करते हुए कहा है कि जब यह जीव मन आदि छः इन्द्रियों के सहित, सूक्ष्म शरीर को लेकर स्थूल शरीर से निकलता है, उस समय अन्तकरण में संस्कारजन्य भावों को अपने साथ लेकर चलता है । जिस प्रकार वायु जिस स्थल से बहकर निकलता है, तो उस स्थल की गन्धादि को ग्रहण कर लेता है । उसी प्रकार यह जीव भी एक शरीर से निकलते तथा दूसरे शरीर में प्रवेश करते समय संस्कारजन्य भावों को अन्तःकरण में लेकर तत् तत् योनियों के शरीर व गुण-धर्मों को ग्रंहण कर लेता है । यथा-

ममैवांशो जीवलोके, जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि, प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।
शरीरं यदवाप्नोति, यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति, वायुर्गन्धानि वाशयात् ।।

उपर्युक्त श्लोक में मन शब्द अन्तःकरण का वाचक है । क्योंकि अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आ जाते हैं । यहाँ मन का अर्थ बुद्धि से भी लिया जा सकता है । अतः इस प्रकार '**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि**' का अभिप्राय अन्तःकरण अर्थात् (बुद्धि) सहित पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पञ्चप्राण से होने के कारण स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर आ जाते हैं । '**ममैवांशो जीवलोके**' में जीवलोके पद जीवात्मा का निवास स्थान शरीर का वाचक होने से भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का अन्तर्भाव आ जाता है ।

अतः कहना होगा कि जीव के साथ तीनों शरीरों में (अन्तःकरण की) बुद्धि भावना की प्रधानता होती है । अन्तःकरण की कार्य प्रणाली को समझने के लिए मनीषियों ने अन्तःकरण को चार भागों में विभाजित किया है । जिसे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के नाम से अन्तःकरणचतुष्टय कहा जाता है ।

मन - अन्तःकरण जब संकल्प-विकल्प का कार्य करता है तब इसे मन कहा जाता है ।

बुद्धि - उचित-अनुचित के विवेक से जब निर्णय लेने का कार्य करता है, तब बुद्धि कहलाता है ।

चित्त - तैलधारावत जब किसी ध्येय अथवा विषय पर केन्द्रित होकर एकाग्र हो जाता है तब चित्त कहलाता है ।

अहंकार - यह अन्तःकरण अहम् स्फुरणा मात्र से अपनी अस्मिता के भाव को अनुभव करता है तब अहंकार कहलाता है ।

वैसे तो अहंकार का स्वरूप निरूपण करना एक प्रकार से प्याज खोजने के लिए प्याज के छिलके निकालने जैसा है । यथा- प्याज को खोजने के लिए क्रमशः प्याज के छिलके निकालते जाएँ तो अन्त में प्याज ही न रह पायेगी । इसी प्रकार अहंकार को देखना अथवा समझना चाहें तो अपनी अस्मिता की विविध पर्तों को क्रमशः निकालते जाएँ । अन्त में कुछ भी नहीं बचेगा । जैसे नमक की कोई गुड़िया समुद्र की गहराई नापने गयी तो स्वयं समुद्र में विलीन हो गयी । गहराई का पता न लगा पायी । वैसे ही अहंकार का भी निरूपण करना है ।

इस प्रकार अहंकार सूक्ष्म रूप से अस्मि भाव में (अहम् वृत्ति में) व्याप्त होता है । जिस प्रकार प्याज का छिलका प्याज से अलग नहीं है अपितु प्याज का छिलका ही प्याज ही है । इसी प्रकार अहं वृत्ति ही अहंकार है । अर्थात् अहम् वृत्ति में सूक्ष्म रूप से व्याप्त अस्मिता का भाव ही अहंकार है । मनुष्य जब कभी किसी कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में अहंकारजन्य अहम् स्फुरणा अथवा अस्मिता का भाव होता है जो कर्म करने के लिए प्रेरित करते रहता है । इसके कारण ही जीव में कर्त्तापन भोक्तापन आ जाता है जिससे जीव तत् तत् भावों का आरोपण करके तदनुरूप अपने आपको अनुभव करता है । यह अहंकार ही शुद्ध बुद्ध चैतन्य आत्मा को जीवभाव प्रदान करता है । यथा - अपने को पाप करने वाला मानकर पापी बनता है । धर्म करने वाला मानकर धर्मात्मा बनता है । इसी प्रकार अपने को सुख-दुःख का भोगने वाला मानकर सुखी हूँ, दुःखी हूँ आदि अनुभूति करता है । यही जीव का लक्षण है । अहंकार के कारण ही प्राणी के अन्तःकरण में विविध संस्कारजन्य भाव तरंगे देश, काल और अवस्था (परिस्थिति) के अनुसार प्रकट व विलीन होती रहती हैं । अहंकारयुक्त अन्तःकरण जीव के साथ

तीनों शरीर में बने रहने के कारण कर्म की व्यापकता, क्रिया और कर्मफल में हमेशा बनी रहती है । परिणामस्वरूप मानव सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त और उसके बाद भी कर्मफल लेप के कारण विविध कर्मों को करता व प्रारब्ध कर्मों का फल भोगता है ।

अभिप्राय यह है कि अहंकार के कारण जीव को मनुष्य योनि के कृतकर्मों का कर्म (फल) लेप होता है, जिसे किसी भी योनि में अथवा सूक्ष्म शरीर में रहकर जीव को भोगना ही पड़ता है ।

सुस्पष्ट हुआ कि कर्मों का मनुष्य जीवन से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्रायः सभी का मानना है कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में कलाओं का विकास अधिक होता है । मनुष्य चाहे तो ज्ञान-भावना आदि के द्वारा कलाओं का उत्तरोत्तर और भी अधिक विकास कर सकता है । मनुष्य शरीर में ही यह योग्यता प्राप्त है। इतर किसी योनि में नहीं ।

मनुष्य को हृदय और मस्तिष्क दोनों ही प्राप्त हैं । हृदय से भावना और मस्तिष्क से विचारादि की उत्पत्ति एवं उनका पोषण-संवर्द्धन आदि होता है । जन्म जन्मान्तर से संस्कारित मन द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य अपनी भावना विचारणा के अनुसार आयोजन पूर्वक सद् असद्, शुभ-अशुभ जैसे भी कर्म करना चाहता है तदनुरूप आचरण-व्यवहार करता है । अन्य जीव अथवा प्राणी तो सहज ही कर्म करते हैं । इस बात का अन्तर होने के कारण मनुष्य योनि में कृतकर्मों का लेप होता है एवं मनुष्य नवीन कर्म करने में स्वतन्त्र भी है । इसलिए मनुष्यों के लिए शास्त्रों में विधि-निषेध का वर्णन् किया गया है । वह चाहे तो अशुभ कर्मों के लेप से बच सकता है। यहाँ तक कि निष्काम कर्म योग के द्वारा अथवा परमात्मा की उत्कृष्ट भक्ति करके, धर्ममय आचरण आदि के द्वारा, अपने अन्तःकरण को निर्मल करके, शुद्ध ज्ञान की अवधारणा आदि के द्वारा, परब्रह्म

परमात्मा से अपने आपको एकाकार करके अपने परम पुरुषार्थ रूपी मोक्ष को सिद्ध कर सकता है । ऐसा अन्तःकरण (हृदय) और बुद्धि (मस्तिष्क) उसको प्राप्त है । इसके द्वारा ही वह अपने आपको बन्धन में बाँध लेता है । इस प्रकार परम पुरुष एवं महाप्रकृति की अनन्त अनादि सर्व व्यापक सत्ता में देश काल परिच्छिन्न जीव सत्ता का अविर्भाव होता है ।

इस अध्याय में अब तक पाठकों के समक्ष कर्म व कर्म के स्वरूप का निरूपण किया गया । कर्मों का विशेषकर मानव जीवन से ही घनिष्ठ सम्बन्ध है । जीव कर्मों के बन्धन से बँधा हुआ विविध भोग भोग रहा है । मनुष्य अपने शरीर से कर्मों के चक्र की गति को बदल सकता है । कर्मचक्र की गति को रोक कर अपने परम-पुरुषार्थ लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने में सफल हो सकता है । जीवत्व भाव से मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा में एकाकार हो सकता है । अतः विविध कर्मों को जानना आवश्यक है । ऐसा सोचकर 'कर्मों के प्रकार' नामक अगला अध्याय प्रारम्भ किया जाता है ।

चौथा अध्याय

कर्मों के प्रकार

मनुष्य योनि भोगयोनि एवं कर्मयोनि दोनों है, क्योंकि मनुष्य शरीर से जीव विविध कृत कर्मों के भोग भोगता और नवीन कर्मों को भी करता है, जो क्रियमाण प्रारब्धादि कर्मफल बनकर इस जीवन अथवा अगले जीवन में भोगने में आते हैं । जीव मनुष्य शरीर से शुभाशुभ कर्म करने में स्वतन्त्र है । वह चाहे तो शास्त्र विहित सद्कर्मों को करके अपनी धार्मिक व आध्यात्मिक उन्नति के द्वारा शुभ कर्मफल भोग सकता है और अपने अभीष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकता है । मनुष्य शरीर से वह अपने किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकता है । यदि मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त न करना चाहे अथवा एतदर्थ प्रयास न करे और बिना विचारे राग-द्वेषादि संस्कारजन्य काम, क्रोध, मोह, लोभ, शोकादि के आवेगों से पूर्ण भावों से प्रेरित होकर अशुभ कर्मों को करता रहे तो अधःपतन को प्राप्त करते हुए विविध योनियों में जन्म-मरण के चक्र में पड़कर विविध तरह से दुःख भोगता रहेगा । गोस्वामी तुलसीदास जी भी श्रीरामचरितमानस में लिखते हैं कि -

स्वर्ग नरक अपवर्ग नसेनी,
ग्यान विराग भगति सुभ देनी ।

अर्थात् मनुष्य शरीर एक प्रकार की सीढ़ी है । (नसेनी है) इसको लगाकर ऊपर चढ़कर स्वर्ग मोक्षादि प्राप्त कर सकते हैं । इसी को नीचे की ओर लगा कर नीचे उतर सकते हैं । पाताल पहुँच सकते हैं अर्थात् पतन को प्राप्त हो सकते हैं । अतः सभी प्रकार के

कर्मों को जानने समझने की दृष्टि से कर्मों के विविध प्रकार एवं लक्षणों के सहित उनका विस्तार से वर्णन किया जाना आवश्यक है।

शास्त्रकारों का कथन है कि शास्त्रविहित कर्मों के न करने और (निषिद्ध) निन्दित कर्मों के करने से व्यक्ति दोष का भागी बनता है। अर्थात् व्यक्ति को पाप लगता है । इसलिए प्रायश्चित्त कर्म का भी विधान किया गया है । अग्नि पुराण के अन्तर्गत गर्ग संहिता में लिखा है कि छिपकर अधर्म करने वाले प्राणियों के शास्ता धर्मराज कहे गये हैं । जो मनुष्य पश्चात्तापपूर्वक प्रायश्चित्त नहीं करते हैं, उन्हें राजा दण्ड देता है और यदि वे किसी कारणवश राजा के दण्ड से बच जाते हैं तो मृत्यु के उपरान्त धर्मराज ही यमराज के रूप में उनका शासन कर दण्ड विधान करते हैं । तथा वे कर्माभिमानी जीव विविध शरीर को प्राप्त कर जन्म-मरण के चक्र के साथ विविध दुःखद यातनाओं को भोगते हैं । '**गहना कर्मणोगतिः**' के भाष्यान्तर्गत् भगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी लिखते हैं कि कर्मणः शब्द उपलक्षण के लिए है । यथा - **कर्मणः इति उपलक्षणार्थं 'कर्मादिनाम् कर्माकर्म विकर्मणाम् ।**' अर्थात् अकर्म-विकर्म नहीं, अपितु कर्म करना चाहिए। उपर्युक्त विवरण के अनुसार भी कर्मों के प्रकार को जानना आवश्यक है । ताकि उचित-अनुचित का सम्यक् विचार कर शास्त्रविहित सत्कर्मादि किये जा सकें ।

यों तो कर्म अनेक प्रकार के हैं । विविध दृष्टिकोणों से उनके प्रकार पृथक्-पृथक् माने गये हैं । यथा - कर्म, अकर्म, विकर्म, सुकर्म, कुकर्म, सामान्य कर्म, विशेष कर्म, उपकर्म, शुभकर्म, अशुभ कर्म, शुभाशुभ कर्म, सद्, असद् एवं सद्सत् कर्म, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य कर्म, कर्त्तव्य कर्म, अकर्त्तव्य कर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म, संस्कार कर्म, कायिक-वाचिक-मानसिक कर्म, सात्विक, राजसिक और तामस

कर्म, नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म, आपत्कर्म, अधिभूत कर्म, अधिदैवकर्म, आध्यात्मिक कर्म, संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्म तथा प्रायश्चित्त कर्म आदि ।

पहले हम उपर्युक्त कर्मों के सामान्य अर्थ व भावों को सुस्पष्ट करेंगे । फिर प्रमुख रूप से विचारणीय कर्मों के विवेचन पर विचार करेंगे । चूँकि प्रमुख रूप से विचारणीय कर्मों के विवेचन के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी दृष्टिकोण के भेद से कुछ खास-खास प्रकार के कर्मों का वर्णन आगे किया जाएगा । अभी उपर्युक्त विविध प्रकार के कर्मों के अर्थ एवं भावों को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त रूप में वर्णन करते हैं ।

कर्म - कर्म का अभिप्राय करने से है । इसलिए किया गया कार्य कर्म है । क्रिया से भिन्न होने पर भी क्रिया में लक्ष्य सन्निहित होने के कारण क्रिया और कर्म मिश्रित से जान पड़ते हैं । भावना या बुद्धि के अनुसार कर्मों का विभेद हो जाता है । गीता में '**विसर्गः कर्म संज्ञिता**' भी कहा गया है । विद्वानों ने कर्म, अकर्म और विकर्म का बड़ा विस्तृत विवेचन किया है । '**गहना कर्मणोगतिः**' के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य जी ने **कर्मणः इति उपलक्षणार्थं** कहकर कर्मादिनाम् का अर्थ '**कर्माकर्म विकर्मणाम्** किया है । अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्म होते हैं । अतः कहना होगा कि शास्त्रविहित उत्तम क्रिया का नाम कर्म है । '**अहंकारो विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते**' विमूढ अहंकारी जन अपने आप को कर्म का कर्त्ता मानते है ।

(१) अकर्म और विकर्म

जिस अवस्था में (कर्त्ता के) कर्म किसी प्रकार का फल उत्पन्न नही कर सकतें, तब वें अकर्म कहलाते है और जब कर्म कुछ विशेष फल देने वाले होते हैं अथवा विशेष फल (परिणाम) देने में सामाथ्र्यवान्

होते है, तब वे विकर्म कहलाते हैं ।

(२) सुकर्म-कुकर्म

सु का अर्थ है अच्छा एवं कु का अर्थ है बुरा अर्थात् अच्छे कर्म और बुरे कर्म । जिन कर्मो को करने के लिए शास्त्र अनुमोदन अथवा विधान करते हैं वे सुकर्म कहलाते है । इनके करने से विविध सुख, यश या उत्तम लोकादि में अनुकूल विषयवस्तु की प्राप्ति होती हैं । शास्त्र जिन कर्मो को करने का निषेध करते हैं वे कुकर्म कहलाते हैं । कुकर्मो से लोक में निन्दा होती हैं तथा लोक-परलोक में विविध दुःखद यातनाओं के साथ अपयश की प्राप्ति होती हैं । कुकर्म करने वाले को बुरे परिणाम भोगने पड़ते हैं। ये ही सुकर्म और कुकर्म के लक्षण हैं ।

(3) सामान्य कर्म, विशेष कर्म और उपकर्म

धर्माचरण के दृष्टिकोण से सामान्यधर्म का पालन, विशेष धर्म का पालन और उपधर्मो का आचरण या पालन करना आदि कर्म सामान्य, विशेष और उपकर्म के नाम से जाने जाते हैं । सर्वसाधारण के लिए जो धर्म करने का विधान है, वही सामान्य धर्म है । यथा- यज्ञ, दान, तप आदि । अधिकारी विशेष की पात्रता आदि के अनुसार जो धर्माचरण करने के कर्म है वे किसी व्यक्ति विशेष को करने के लिए होते हैं । विशेष धर्म के नाम से जाने जाते है। वे विशेष कर्म हैं । यथा राजकर्म मात्र राजा के लिए होते हैं। इसीतरह नारीधर्म, क्षत्रियधर्म, यतिधर्म आदि के विषय में भी समझना चाहिए। धर्माचरण करने के लिए, धर्म के विविध उपाङ्गो का भी वर्णन मिलता है । उनका आचरण करना, उपकर्म कहलाता है । धृति, क्षमा, दया,परोपकार करना आदि उपकर्म के उदाहरण हैं ।

(४) शुभकर्म अशुभकर्म और शुभाशुभ कर्म :-

सुकर्म और कुकर्म के अन्तर्गत शुभकर्म और अशुभ कर्म का अन्तर्भाव आ जाता है । सिर्फ दृष्टिकोण का भेद यह है कि कर्म करने की दृष्टि से सुकर्म-कुकर्म नाम से भेद किया गया है तथा यहां कर्मफल भोग (परिणाम) के दृष्टिकोण से शुभकर्म और अशुभ कर्म नाम दिया गया है । प्रथम में कर्तृत्व भाव से किये जाने वाले कर्म का सुकर्म-कुकर्म भेद माना गया है एवं भोक्तृत्व भाव से भोगे जाने वाले कर्म (फल परिणाम) को शुभ कर्म, अशुभ कर्म कहा गया है । शुभ कर्मों का परिणाम , लोक परलोक में सुख-शान्ति और यशादि देने वाला शुभकारण होने से वे शुभ कर्म कहे जाते हैं। इसी तरह जिन कर्मों का फल (परिणाम) लोक-परलोक में दुःखद व अपयश कारक होता है वे इन अशुभ लक्षणों के कारण अशुभ कर्म कहे जाते हैं । जब कर्मों का परिणाम मिश्रित रूप से, शुभ और अशुभ फलों से युक्त होता है तब वे शुभा-शुभ कर्म के नाम से जाने जाते हैं । अतः कहना होगा कि सुकर्म ही शुभकर्म है एवं कुकर्म, अशुभ कर्म है ।

(५) सदकर्म-असदकर्म एवं सदसत् कर्म

सद्-असद् का अर्थ ही अच्छा और बुरा होता है । इसलिए सद्कर्म अर्थात् अच्छा कर्म और असद् कर्म अर्थात् बुरा कर्म । नैतिक दृष्टि कोण से नीतिकारों ने सद्-असद् के विचार से, कर्म का भेद, सद्कर्म और असद्कर्म एवं मिश्रित रूप सदसत् आचरण होने पर, सदसत् कर्म किया है । लोक नीति की दृष्टि से यह भेद माना है । सुकर्म, शुभफल देने वाले सद्कर्म कहे जाते हैं और कुकर्म, अशुभफल देने वाले असद्कर्म हैं तथा इन दोनों का, मिश्रित कर्मों का मिश्रण होने पर ये सदसत् कर्म कहे जाते हैं ।

(६) धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य कर्म

आस्तिक लोगों के विचार में, धर्म शास्त्रों की दृष्टि से यह माना गया है कि - शास्त्र विहित कर्म करना, धर्ममय होने से धर्माचरण कहलाता है, जिसका सूक्ष्म रूप पुण्यफल होता है । पुण्यों से, (धर्मात्मा) पुरुष सभी अभीष्टों को प्राप्त करते हुए, विविध शुभ लोकों में पहुँचकर, सुख एवं सुख के साधन वैभव आदि को प्राप्त करता है तथा उत्तरोत्तर धार्मिक-आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करते हुए अपने परम पुरुषार्थ स्वरूप परमब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है । उनमें एकाकार होकर मोक्ष उपलब्ध करता है । इसी प्रकार शास्त्र निषिद्ध आचरण करना शास्त्र अविहित व अधर्ममय होने से अधर्म माना जाता है । अधर्म का सूक्ष्म रूप पाप बनता है । पाप फल के कारण पापी पुरुष को लोक-परलोक में विविध यातनाओं के लिए शरीर प्राप्त होते हैं । जिनके माध्यम से अधर्माचरण करने वाले पापात्मा पुरुष को कष्ट व दुःख भोगना पड़ता है । उसके कोई भी मनोरथ पूर्ण न होने से, वह सर्वत्र आकुल-व्याकुल व त्रस्त होकर अशुभ कर्मों का फल भोगता है । धर्माधर्म के कारण, पाप पुण्यमय मिश्रित फल वाले (कर्मफल के परिणाम स्वरूप) सुख-दुःख,.योग-वियोग आदि को मिश्रित रूप से जीव प्राप्त करता है, जिससे कभी सुख एवं कभी दुःख की अनुभूति अपने सम्पूर्ण जीवन में करते रहता है । अतः ऐसे लोगों के लिए आदि शंकराचार्य जी ने कहा है कि वे अकर्म विकर्म को छोड़कर कर्म ही करें, अर्थात् शास्त्र विहित उत्तम क्रिया (का आश्रय लेकर, धर्माचरण मात्र) करें ।

(७) कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म

जिन कर्मों को करना, व्यक्ति (मनुष्य) के लिए आवश्यक होता है अर्थात् जिन्हें करना चाहिए वे (व्यक्तिगत) कर्त्तव्य कर्म

कहलाते है और जिनको (जिन कर्मों को) नहीं करना चाहिए वे अकर्त्तव्य कर्म कहे जाते हैं अर्थात् उचित-अनुचित के विवेक से जो कर्म आवश्यक और अनावश्यक माने जाते हैं वे ही कर्त्तव्यकर्म और अकर्त्तव्य कर्म कहे जाते हैं । दोनों को सम्मिलित रूप में करने पर, ये कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म कहलाते हैं । यथा -

स्वधर्म पालन करना, जरूरी एवं उचित होने कर्त्तव्य कर्म कहा जाता है । इसी प्रकार दूसरे का धर्म पालन करना उचित (न होने से) व जरूरी न होने से, उसका पालन करना अकर्त्तव्य कर्म कहा जाता है । यथा - दूसरों का अच्छा धर्म समझकर, यदि उसका पालन किया जाने लगे तो वह अकर्त्तव्य कर्म होगा । इसी भाव से गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि-

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः ।। अर्थात् अपना धर्म गुणरहित होने पर भी, दूसरे के सम्यक् अनुष्ठित धर्म से श्रेष्ठ हैं । अपने धर्म का पालन करते हुए उसमें मरना भी अच्छा है, किन्तु दूसरों का धर्म भयावह है याने भय उत्पन्न करने वाला है । इसी प्रकार मिश्रित रूप में कुछ कर्त्तव्य कर्म और कुछ अकर्त्तव्य कर्म किये जाने पर वे कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म कहलाते हैं । इनका परिणाम् भी मिश्रित फल वाला होता है ।

(८) संस्कार कर्म

जिस तरह धातु विशेष में संस्कार करने पर वह अपने मूलरूप को प्राप्त कर, अपना अस्तित्व स्थापित करती है अथवा उसमें चमक आ जाती है । इसी तरह व्यक्ति में संस्कार के द्वारा उत्कर्ष लाया जा सकता है अतः धार्मिक, आध्यात्मिक उत्कर्ष अथवा उन्नति के लिए जीवन में समय-समय पर जो क्रियायें की जाती हैं वे संस्कारकर्म

कहे जाते हैं । ये मानव जीवन के प्रारम्भ से लेकर जीवनोपरान्त तक किये जाते हैं। शास्त्रों में 48 प्रकार के संस्कार माने गए हैं जिनमें से 16 संस्कार प्रमुख व प्रचलित हैं । भारतीय संस्कृति में इन 16 संस्कारों का विशेष महत्त्व है ।

(९) कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म :-

जिन कर्मों के कारण आत्मा को शरीर प्राप्त होता है वे कर्म 3 प्रकार के कहे गए हैं- कायिक, वाचिक और मानसिक । विहित और अविहित दृष्टि से प्रत्येक के दो प्रकार होते है एवं गुणों के आधार पर भी सत्व, रज, तम के भेद से तीन प्रकार से सभी के भेद किए जाने पर कुल 18 प्रकार होते हैं । यहाँ पाप की दृष्टि से तीनों प्रकार के कर्मों का उल्लेख किया जा रहा है । पाठकगण विचारें व समझें ।

प्रथम - शरीर के तीन पाप हैं । चोरी करना, दूसरों की हिंसा करना, परस्त्रीगमन अर्थात् व्यभिचार ।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ।।

द्वितीय- वाणी के चार पाप हैं । यथा -

पारुष्यमनृतं चैव, पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्ध प्रलापश्च, वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ।।

अर्थात् कडुवा या कठोर बोलना, मिथ्या बोलना चुगली करना और अनर्गल (व्यर्थ ही) प्रलाप करना ।

तृतीय - इसी तरह मन से किये जाने वाले पाप भी तीन प्रकार के हैं । दूसरे के धन की इच्छा करना, मन से दूसरों का अनिष्ट सोचना, झूठा अभिमान करना कि मैंने ये किया था, मैं ये करूँगा आदि मन के द्वारा किये जाने वाले पाप हैं ।

परद्रव्येष्वभिध्यानं, मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च, त्रिविधं कर्म मानसम् ।।

उपर्युक्त अट्ठारह प्रकार के कर्म, आस्तिकता के आधार पर पाप-पुण्य के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

(१०) सात्विक, राजस और तामस कर्म

अन्तःकरण में उद्भूत सत्व, रजस् और तमस् गुणों के आधार पर भी कर्मों के प्रकार हो जाते हैं गीता में उक्त तीनों प्रकार के कर्मों के आधार पर तीन प्रकार के मनुष्य निरूपित किये हैं अतः कहना होगा कि जिस गुण के साथ, कर्म में प्रवृत्ति होती है गुण के अनुसार वही कर्म कहलाता है । यथा सत्वगुण के साथ सात्विक, रजोगुण के साथ राजस एवं तमोगुण के साथ तामस कर्म कहे जाते हैं । जिस प्रकार अविहित कर्मों का उल्लेख कर कर्म के तीन प्रकार समझाये गये इसी प्रकार आस्तिकता की मान्यता के अनुसार शास्त्र विहित कर्मों पर भी विचार रखते हैं ।

(११) नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म एवं काम्य कर्म

शास्त्र विहित कर्म छः प्रकार के माने गये हैं ये हैं नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्यकर्म, अधिभूतकर्म, अधिदैवकर्म एवं आध्यात्मिक कर्म । इनमें से तीन की प्रमुखता मानी गयी है क्योंकि प्रायः अधिभूत, अधिदैव तथा आध्यात्मिक कर्मों का इन तीनों में समावेश हो जाता है ।

१. नित्यकर्म

जिन कर्मों के करने से कोई विशेष लाभ अथवा पुण्य नहीं होता किन्तु न करने से प्रत्यवाय दोष बहुत बड़ी हानि अथवा नुकसान होता, पाप लगता है वे नित्यकर्म कहलाते हैं । यथा - संध्योपासन कर्म, पञ्चमहायज्ञ, शौच, स्नान, भोजन करना आदि ।

२. नैमित्तिक कर्म

जिन कर्मों को करने से पुण्य मिलता है किन्तु न करने से कोई पाप नहीं होता तथा जो किसी निमित्त से होते हैं वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं । यथा - तीर्थ दर्शनादि । तीर्थों में देवीशक्ति, विविध रूपों में होती है, तथा महात्माओं के स्थान होते हैं । इस कारण श्रद्धा-विश्वास व आस्तिक मान्यता के आधार पर तीर्थ दर्शनादि से पुण्य होता है ।परन्तु यदि कोई उनका दर्शन करने न जाय तो, न जाने के कारण कोई पाप नहीं होता है । यहाँ दर्शन के निमित्त जाना होने से यह नैमित्तिक कर्म कहलाता है ।

३. काम्यकर्म

जो कर्म किसी विशेष कामना को पूर्ण करने के लिए किये जाते हैं वे काम्य कर्म कहलाते हैं । अर्थात् काम्य कर्म किसी कामना को लेकर किये जाते हैं । यथा - पुत्र कामना से पुत्रेष्टियाग। दिग्विजय की कामना से अश्वमेध यज्ञ अथवा स्वर्ग प्राप्ति की कामना से अमुक पवित्र कर्म आदि करना । काम्य कर्मों में अमुक स्वार्थ की कामना-भावना आदि होती है । इस कारण एक ही कर्म (कार्य) भाव भेद से नैमित्तिक अथवा काम्य कर्म हो जाता है । उदाहरणार्थ तीर्थ दर्शन-यात्रा आदि नैमित्तिक कर्म है किन्तु यदि उसमें कोई कामना (मानता) रख ली जाय तो वही नैमित्तिक कर्म काम्य कर्म बन जाता है । तात्पर्य यह है कि नैमित्तिक कर्म के मूल में चित्त का केवल साधारण धर्म भाव रहता है परन्तु काम्य कर्म में विशेष कामना रहती है ।

(१२) अधिभूतकर्म , अधिदैवकर्म और आध्यात्मिक कर्म

1. अधिभूत कर्म उसे कहते हैं, जिसमें दूसरे भूतों (जीवों) के

द्वारा कामना की सिद्धि और फल की प्राप्ति हो । यथा - ब्राह्मण भोजनादि कर्म । दरिद्रों को भोजन देना, अनाथालय, निःशुल्क चिकित्सालय आदि के द्वारा जीवों का कल्याण करना । दूसरों की प्रसन्नता अथवा तृप्ति के लिए किये गये कर्म अधिभूत कर्म कहलाते हैं । लोकोपकारक सम्पूर्ण कर्म-अधिभूत कर्म के उदाहरण हैं ।

2. अधिदैव कर्म उसे कहते हैं जिससे कर्म के द्वारा दैवीशक्ति को अनुकूल करके फल प्राप्त किया जाता है । यह बात शास्त्र सिद्ध है कि कर्म नष्ट न होने पर भी प्रबल कर्म के द्वारा दुर्बल कर्म दब जाते हैं । यथा - पूर्व के दुष्ट कर्मों के फल से जब मनुष्य दुःख पाता है, तो अनुष्ठानादि अधिदैविक कर्मों के द्वारा पुण्यमय संस्कार-फल उदय होने पर जीवका दुःख दूर हो जाता है । जिस तरह ग्राम या नगर की सुख-शान्ति अथवा महामारी जैसे प्रकोप को शान्त करने के लिए ग्राम देवी-देवता का पूजन यज्ञानुष्ठान किया जाता है और शान्ति स्थापित हो जाती है । उसका कारण अधिदैवकर्म ही है। तात्पर्य यह हुआ कि - दैवी शक्ति को प्रसन्न करके उससे उत्पन्न प्रबल दैवी शक्ति के द्वारा विपरीत संस्कार अथवा आधि-व्याधि हटाने के लिए अधिदैव कर्म कहलाते हैं ।

3. आध्यात्मिक कर्म में बुद्धि का प्राधान्य रहता है अतः स्वधर्म, स्वदेशोपकारक कर्म तथा ज्ञान विस्तारकारी कर्मों को आध्यात्मिक कर्म कहा जाता है । मनुष्य अपने अहंकार को जितना दबाता है (घटाता है) उतना ही विश्वजीवन के साथ उसके जीवन की एकता होते जाती है । इस अवस्था में व्यक्ति संसार के हित के लिए समस्त कष्टों को सहन करता है यहाँ तक कि दूसरों के लिए अपना उत्सर्ग भी कर देता है । उसे सर्वत्र अपनी आत्मा ही दृष्टिगोचर होती है अतः सर्वत्र आत्मभाव आने से, आत्मा को लक्ष्य लेकर कर्म करता है इसलिए ऐसे पुरुष के सभी कर्म आध्यात्मिक कर्म कहलाते

हैं। भगवान् कृष्ण गीता में "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते" कहते हैं अर्थात् आत्मज्ञान पूर्वक सम्पन्न कर्म आध्यात्मिक कर्म हैं।

(१३) आपत्कर्म

इसे आपद्धर्म के नाम से भी जाना जाता है। आपत्ति के समय अपनी रक्षा के लिए आपद्धर्म का पालन करना चाहिए। आपत् काल में, विपत्ति अथवा परिस्थिति विशेष को ध्यान में रखकर, धर्म पालन करने के नियम संक्षिप्त एवं सरल किये जाते हैं। उन्हें आपद्धर्म कहा जाता है। आपद्धर्म परिस्थिति एवं विशेष काल में ही पालन किये जाने चाहिए। इसलिए इन्हें आपत्कर्म कहते हैं। आपत् काल का आचार, उस समय का धर्म होता है। दूसरे समय उसका वर्तन करना अधर्म होता है।

(१४) संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्म

जीव, मनुष्य शरीर से जितने भी कर्म करता है वे सब संग्रह होकर, तीन भागों में विभक्त हो जाते है। वे हैं संचित कर्म - प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्म।

संचित कर्म

मनुष्य द्वारा, किये गये कर्मों में से, जिन कर्मों का फल भोग अवशेष रह जाता है, वे संचित कहलाते हैं। उनमें से जिनका (जिन कर्म फलों का) उपभोग प्रारंभ हो जाता है, वे प्रारब्धकर्म कहलाते हैं, एवं जो कर्म किये जाने पर, तत्काल (प्रबलता के कारण) फल भोग देते हैं, वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। यथा - कोई कृषक फसल काट कर, बीज (अनाज) एकत्रित करके रख लेता है। तो वह एकत्रित अनाज संचित है और जिसको उपभोग करने के लिए निकाल लेता है वे प्रारब्ध कर्म की तरह हैं, तथा जिनको (निकाले में से कुछ को) खेत में बो देता है वे क्रियमाण की तरह हैं। इस तरह संचित

कर्म में से प्रारब्ध और प्रारब्ध द्वारा क्रियमाण कर्म की श्रृंखला अनवरत चालू है जो जीव को आवागमन के चक्र में बनाये हुए है इनका विस्तृत वर्णन् आगे किया जावेगा ।

(१५) प्रायश्चित्त कर्म

विहित अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों को न करने और निन्दित (शास्त्र अविहित) कर्मों को करने से पुरुष दोष का भागी होता है। इसी तरह ज्ञात-अज्ञात में भी मनुष्य से कोई न कोई पाप (अधर्ममय आचरण) हो जाते हैं । उनकी निवृत्ति के लिए, शास्त्रोक्त जो कर्म किये जाते हैं वे प्रायश्चित्त के नाम से जाने जाते हैं ।

कहना होगा - "जिन कर्मों के द्वारा, मनुष्य अपने पापों का प्रशमन या निवृत्ति करता है वे प्रायश्चित्त कर्म कहलाते हैं ।" शास्त्रों में अनेक तरह से प्रायश्चित्त कर्म करने के विधान बतलाये गये हैं। मनुष्य (व्यक्ति) प्रायश्चित्त कर्म करके, अनेक पाप कर्मों के, फलभोग (परिणाम) भोगने से बच सकता है ।

यहाँ तक विविध प्रकार के कर्मों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया । इनके अलावा और भी प्रकार के कर्म हैं जो अलग-अलग वृत्तियों के आधार पर भिन्न-भिन्न नाम से जाने जाते हैं। यथा - काम कर्म, क्रोधकर्म, लोभकर्म, आदि तद्विषयक प्रवृत्ति मय होते हैं । इन सब कर्मों अथवा कर्म के प्रकारों का समावेश, किसी न किसी तरह, पाप-पुण्य के रूप से, संचित-प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों में हो जाता है । यदि हम कर्म के प्रकार को समझने के लिए, दो दृष्टिकोण से विभाजन करें तो उनके अन्तर्गत सभी प्रकार के कर्म आ जाते हैं । 1. (दृष्टिकोण) कर्म करने की दृष्टि से कर्म के प्रकार दो ही हैं । धर्म-अधर्ममय-पाप-पुण्य के रूप में । 2. (दृष्टिकोण) फल भोग की दृष्टि से कर्म के तीन प्रकार हैं - संचित, प्रारब्ध और

क्रियमाण कर्म के रूप में । उक्त दोनों दृष्टिकोण से कर्मों के प्रकार करने पर, सभी के विचार व दृष्टि से किये गये कर्मों के प्रकार समाविष्ट हो जाते हैं । अतः उक्त अंश पर ही, विस्तृत विचार विवेचन करते करते हैं यथा - धर्ममय कर्म, पुण्यफल वाले के अन्तर्गत कर्त्तव्य कर्म, धार्मिक दृष्टिकोण से माने गये कर्मों के प्रकार, सद्कर्म, शुभकर्म, सुकर्म, विहित कर्म, प्रायश्चित्त कर्म आदि का समावेश हो जाता है । इसी प्रकार अधर्ममय कर्म, पापफल वाले के अन्तर्गत अकर्त्तव्य कर्म, अविहित कर्म, असद्कर्म अशुभकर्म, कुकर्म, पापकर्म निषिद्ध कर्म आदि का समावेश हो जाता है । भोगफल की दृष्टि से संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म के रूप में उक्त कृत कर्मों के फल (परिणाम) विभाजित हो जाते हैं ।

पुनः, जीव, मनुष्य शरीर से जितने भी कर्म करता है वे सब संग्रह होकर तीन श्रेणियों (भागों) में विभक्त हो जाते हैं । जो संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्म कहलाते हैं । बतलाया जा चुका है कि मनुष्य अनेक जन्मों से कर्म संग्रह करते आ रहा है । उन सब कर्मो का भोग न होकर, उनमें से कुछ कर्म जो प्रबल होते हैं । उन्ही का भोग होता हैं । बाकी जितने कर्म एकत्रित होते रहते है, जिनका भोग नही हो पाता उस कर्म राशि को संचित कर्म कहते हैं । ये संचित कर्म चित्त के गम्भीर स्तर चिदाकाश में संचित रहते हैं एवं धीरे-धीरे अवसर पाकर, इनका फल भोग होता है । इन कर्मों में से जो शक्तिशाली कर्म ऊपर चित्ताकाश में आकर, भोगायतन वाले, अगले जन्म का शरीर प्रदान करते हैं । जिसे प्रारब्ध कहते है । प्रत्येक जन्म में जीव अपनी वासना के अनुसार- नवीन नवीन कर्म करता है । उन कर्मों को क्रियमाण कर्म कहा जाता है । क्रियमाण कर्मों में जो कर्म बलशाली होते है, वें प्रारब्ध बनकर आगे जन्म के शरीर जाति, आयु एवं भोग उत्पन्न करने का कारण बन

जाते हैं । बाकी संचित कर्मो में जा मिलते हैं । उदाहरण द्वारा भी समझ सकते हैं कि, कोई मनुष्य एक जन्म में ऐसे कर्म करें, जिसमें कुछ स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले, कुछ नरक योनि के साधनीभूत एवं कुछ उन्नत मनुष्य योनि को प्राप्त कराने वाले हैं । तो इन सब श्रेणी के कर्मो की व्यवस्था इस तरह होगी कि इन कर्मो में जो (कर्म) सबसे उग्र एवं बलशाली होगेंः वे ही उस मनुष्य के मृत्यु के समय चित्ताकाश में स्वतः आ जावेंगे और प्रारब्ध बनकर उस मनुष्य का जन्म प्रदान करने के कारण बनेगें । यदि उसके वे प्रबल कर्म, मनुष्य योनि के उपयुक्त हों तो प्रथमतः मनुष्य योनि प्राप्त होगी । बाकी स्वर्ग एवं नरक देनें वाले कर्म, चिदाकाश में संचित रहेंगे । मनुष्य योनि में (जीव) कर्म करने के लिए स्वतंत्र होता है । अतः यदि मनुष्य जन्म पाकर वह जीव ऐसे प्रबल शुभ कर्मों का संग्रह करें जो नरक योनि या स्वर्ग योनि प्राप्ति कराने वालें दोनों कर्मो से भी शक्तिशाली एवं प्रबल हों, तो भावी जन्म उसका उन्ही कर्मो के अनुसार होगा । दूसरे जन्म में उसे स्वर्ग या नरक योनि की प्राप्ति नहीं होगी । यदि ऐसा ही हो कि वह क्रमशः उन्नत कर्म करता हुआ अन्त में मुक्त हो जाय तो उसको नरक योनि की प्राप्ति होगी ही नहीं । उसके वे कर्म प्रकृति के महाकाश में विलीन हो जावेंगे। यदि ऐसा नहीं हुआ तो दूसरे जन्म में या कालान्तर में उसको नरकादि योनि अवश्य प्राप्त होगी । कर्म करने की स्वतंत्रता होने के कारण मनुष्य चाहे तो अशुभ कर्म संस्कार के वेग को नष्ट करके उत्तम कर्म संस्कार उत्पन्न कर सकता है । यह बात, यदि मनुष्य समझ जाय तो पुरुषार्थ करके भावी जीवन को अवश्य ही पवित्र और उन्नत बना सकता है। इसके विपरीत ऊपर लिखित त्रिविध कर्मों में से यदि मनुष्य योनि प्राप्त कराने वाले कर्मों की अपेक्षा पशु या स्वर्गीय योनि प्राप्त कराने वाले कर्म अधिक प्रबल व शक्तिशाली

होंगे, तो पहले पशुयोनि या स्वर्ग योनि की प्राप्ति, उस जीव को होगी। ये दोनों ही योनियाँ, भोग योनियाँ हैं.। इनमें कर्म स्वातन्त्र्य नहीं है। इनमें रहकर, मात्र भोग भोगे जा सकते हैं। अतः जीव को कर्मफल भोगकर नये कर्म संग्रह के लिए, मनुष्य योनि में ही आना होगा। इस प्रकार संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण त्रिविध कर्मों के अधीन होकर, जीव संसार में आवागमन के चक्र में धूमता रहता है। वह कभी स्वर्ग, कभी नरक, कभी प्रेत, कीट-पतंग आदि होकर कभी मनुष्य एवं कभी पशु-पक्षी की योनियों में (भटकते रहता है) आवागमन किया करता है।

संस्कार कर्म एवं प्रायश्चित्त कर्म तथा नित्य, नैमित्तिक काम्यकर्मादि अर्थात् अधिभूत, अधिदैव और आध्यात्म कर्म करके आत्मोन्नति द्वारा, मनुष्य अपने-आपको विविध यातनाओं से बचा सकता है। अतः उपर्युक्त प्रकार के शास्त्र विहित कर्मों को करते हुए धर्ममय सदाचरण मनुष्य को करना चाहिए। कर्मों के विविध प्रकारों को, अनेक तरह से प्रस्तुत अध्याय में समझाया गया। अब विविध प्रकार के कर्मों के परिणामों का विवेचन करने के लिए अगला अध्याय प्रारंभ किया जाता है।

पाँचवा अध्याय

विविध-कर्मों के परिणाम

किये गये, विविध कर्मों के शुभ-अशुभ अथवा शुभाशुभ मिश्रित परिणाम प्राणी के समक्ष विविध रूपों में अनेक तरह से उपस्थित होते हैं। कर्म चाहे, सद्-असद्, शुभ-अशुभ, सुकर्म-कुकर्म अकर्म-विकर्म, संस्कार, प्रायश्चित्त, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म, आपद्धर्म, अधर्म आदि में से जो, जैसे हो वे सभी प्रायः शरीर, वाणी अथवा मन के होते हैं। इसलिए उनके (उनकर्मों के फल) परिणाम भी, कायिक, वाचिक मानसिक, पाप अथवा पुण्य के रूप के रूप में संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म बन जाते हैं।

दस प्रकार के पापों का उल्लेख करते हुए शास्त्रों में लिखा हुआ है कि तीन प्रकार के पाप शरीर से, चार प्रकार के वाणी से, एवं तीन प्रकार के मन से होते हैं इसी तरह पुण्य भी शरीर वाणी एवं मन के द्वारा होते हैं। उनमें गुणों के भेदानुसार अन्तःकरण में भाव उठते हैं, तदनुरूप धर्म-अधर्म के कर्म भी एक दूसरे में परिणत अथवा मिश्रित होकर पाप-पुण्य के फल देते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण के अहंकार जन्य भाव के बिना कोई कर्म हो ही नहीं सकते। अतः अन्तःकरण की प्रेरणा से ही; कायिक, वाचिक, मांनसिक कर्म होते हैं। उनके विविध प्रकारानुसार विविध तरह के परिणाम हैं। उनका ही उल्लेख इस अध्याय में किया गया है।

धर्म-अधर्म के कर्म भी, एक दूसरे में परिणित होकर पाप-पुण्य के फल देते हैं। मनुष्य की भावना या बुद्धि के अनुसार ही किया

गया, अधर्म-सा लगने वाला कर्म भी सद्भावनामय होने से, धर्म हो जाता है । तथा किया गया धार्मिक कृत्य भी, अधर्ममय असद्भावना (दुर्भावना) के कारण अधर्म का धर्म होना कहा गया है । यही भाव पाप-पुण्य के विषय में, पाप का पुण्य और पुण्य का पाप होने के संदर्भ में समझना चाहिए ।

शरीर, वाणी और मन से किंये गये पापों के परिणाम के विषय में कहा गया है कि -

शरीरजैः कर्म दोषैर्यातिस्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मनसैरन्त्यजातिताम् ।।

अर्थात् शरीर से किये हुए पाप वृक्षादि की योनियों मे; वाणी से किये हुए पांप पक्षी और मृगादि योनियों में तथा मन से किये हुए पाप, चाण्डालादि योनियों में भोगे जाते हैं । यथा - धान चुराने वाला हंस होता है । जल की चोरी करने वाला मेंढक होता है । मधु चुराने वाला मधुमक्खी, दूध चुराने वाला नेवला, रेश्मी वस्त्र चुराने वाला तीतर, फलमूल आदि की चोरी करने वाला बन्दर, इत्रादि सुगंधित पदार्थ चुराने वाला दूसरे जन्म में मोर होता है । इस सम्बन्ध में प्रमाण का श्लोक निम्न है-

धान्यं हृत्वाभवत्याखुः, कांस्यं हंसो जलंप्लवः ।
मधुदंसः पयः काकः रसं श्वा नकुलो घृतं ।
कौसेयं तित्तिरी हृत्वा, फलमूलं तु मर्कटः ।
छुछुन्दरी शुभान् गन्धान् पत्रशाकन्तु बर्हिणः ।

गोस्वामी तुलसीदास जी भी विविध शास्त्र एवं अनेक धर्म ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन करके अपने मूलग्रन्थ श्रीरामचरित मानस में उक्त संदर्भ में लिखते हैं कि -

परद्रोही कि होहिं निःसंका।
कामी पुनि कि रहहिं अकलंका ।।

बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें।
कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें ।।
काहु सुमति कि खल संग जामी।
सुगति पाव कि परत्रिय गामी ।।
पावन जस कि पुण्य बिन होई।
बिनु अघ अजस कि पावई कोई ।।
अघ कि पिसुनता सम कछु आना।
धर्म कि दया सरिस हरि जाना ।।
परम धरम श्रुति विदित अहिंसा,
पर निन्दा सम अघ न गरीसा ।।
हर गुरु निंदक दादुर होई ।
जन्म सहस्र पाव तन सोई ।।
द्विजनिन्दक बहु नरक भोगकरि।
जग जन्मई बायस शरीर धरि ।।
सुर श्रुति निन्दक जे अभिमानी ।
रौरव नरक परहिं ते प्राणी ।।
होई उलूक संत निंदा रत ।
मोह निशा प्रिय ग्यान भानुगत ।।
सबकै निंदा जे जड़ करहीं ।
ते चमगादुर होई अवतरहीं ।।

अर्थात् परद्रोही को भय होता है । कामी पुरुष को कलंक लगता ही है । द्विज का अनहित करने से वंश समाप्त हो जाता है अथवा अगले जन्म में निर्बंशी होता है, याने संतान सुख से वंचित होता है । परस्त्रीगमन करने वाले को सुगति नहीं मिल सकती । पवित्र यश पुण्य से ही प्राप्त होता है एवं पाप से अपयश की प्राप्ति होती है । चुगली करने के समान कोई पाप नहीं और दया करने के समान कोई धर्म नहीं है । वेद-शास्त्रों में यह बात विदित है कि

अहिंसा श्रेष्ठ धर्म है तथा दूसरों की निन्दा करने से बड़ा कोई पाप नहीं है । भगवान्, गुरु आदि की निन्दा करने वाला अगले जन्म में मेंढक होता है और हजार जन्मों तक वही तन प्राप्त करता है । देवता, शास्त्रादि की जो अभिमानी निन्दा करते हैं वे रौरव नरक में पड़ते हैं । संतों की निन्दा में रत रहने वाला, मोह निशाप्रिय अज्ञानी, उल्लू का शरीर प्राप्त करता है और जो जड़, सबों की निन्दा करता है वह मूर्ख, चमगादड़ का शरीर प्राप्त करता है । निन्दा या चुगली आदि वाणी के पाप करने वालों के कर्म भोग का यहाँ वर्णन किया गया ।

कर्म विपाक, मदनमहार्णव आदि ग्रन्थों में कर्म फल भोग के विषय में विस्तृत वर्णन किया गया है एवं बतलाया गया है कि अमुक कर्म करने से, अमुक रोग, अमुक योनि, अमुक प्रकार का कष्ट तथा अमुक-अमुक आधि-व्याधि की प्राप्ति होती है । जिसे मनुष्य को बाध्य होकर भोगना ही पड़ता है । कहा है - **''रोगाणां त्रिविधत्वम् कर्मणा, दोषजा, उभयजा''** अर्थात् तीनों प्रकार से, रोग उत्पन्न होते हैं ।

कर्म विपाक से सम्बंधित ग्रन्थों में पाप कर्मों को उनकी श्रेणी के अनुसार पातक, महापातक और उपपातक संज्ञा दी गयी है एवं उनको ही विविध रोगों का कारण बतलाया गया है । यथा -

1. महापातकों से होने वाले रोग - राजयक्ष्मा, प्रमेह ग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, गण्डमाल, अक्षिनाश और पक्षघात आदि हैं ।

इसी प्रकार - **2. उपपातक से होने वाले रोग** -जलोदर, यकृत, प्लीह, शूल, शोक, ब्रण, श्वास, अजीर्ण ज्वर, भ्रममोह, गलग्रह, रक्तार्बुद, विसर्प, वल्मीक, पुण्डरीक आदि हैं । सूर्य नमस्कार से प्रायः सर्व रोगों की निवृत्ति होती है एवं ऐसी मान्यता है कि जप, वेद पाठ-शतरुद्री, विष्णु सहस्त्रनामादि के पाठ अनुष्ठान से पातक,

महापातक और उपपातक से होने वाले रोगों की निवृत्ति होती है ।

पुराणों में लिखा है कि -

1. मंदिर या नदियों अथवा जलाशय में विष्ठा करने वाले को गुदारोग होते हैं ।

2. मार्ग में, नदी के किनारे, जल में, वृक्ष छाया आदि में पेशाब करने से मूत्राशय संबंधी रोग होते हैं ।

3. सन्मार्ग से हटाने वाला अथवा बरगलाने वाला पाद रोगी होता है ।

4. आग लगाने वाले को रक्तातिसार रोग होता है ।

5. जो दूसरों की जीविका (भोजन) हरता है उसे शूल रोग होता है ।

6. जहर देने वाले को स्प्लीन (प्लीन) का रोग होता है ।

7. पिशुन कर्म करने वाले को श्वास (कफसम्बंधी) रोग होता है ।

यदि प्रायश्चित्त कर्म किये जावें तो अशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप होने वाले रोगों का शमन होता है ।

निन्दित कर्मों को करने से पातक लगता है, जिनका भोगफल किसी न किसी रूप से, भोगने में अवश्य आता है । ये पातक दो प्रकार के माने जाते हैं । 1. महापातक 2. उपपातक ।

ब्रह्मघाती, मद्यपायी, चोर, गुरुतल्पगामी और इनके साथ रहने वाले ये पाँचों महापातकी हैं तथा सम्बन्धित कर्म महापातक कहलाते हैं । इनके अलावा इनके समकक्ष पातक भी महापातक की तरह माने जाते हैं । ऐसे महापातकियों के साथ जो कोई एक वर्ष पर्यन्त, नित्य सब कुछ जानते हुए भी, सवारी करता है, शैया, आसन भोजन-व्यवहार आदि करता है तो वह पतित हो जाता है ।जैसे-

1. आग लगाना, सुरापान की तरह महापातक माना गया है ।

2. घोड़ों का अपहरण करना, फसलों को नष्ट करना आदि स्वर्ण स्तेय की तरह महापातक हैं ।

3. कन्या का अपहरण, भगिनी, कन्या व अन्त्यज स्त्री के साथ सहवास, गुरुशैया पर शयनादि, गुरुपत्नी गमन की तरह महापातक माने गये हैं ।

4. इन पातकियों के साथ निवास करना अथवा इनका साथ देना आदि महापातक ही है ।

उपपातकी से उपपातक की पहिचान

1. ब्राह्मण को अर्थ देने का वचन देकर नहीं देने वाला, सदाचारिणी पत्नी का त्याग करने वाला तथा-

2. साधु, बन्धु का त्याग करने वाला । तपस्वियों का भी त्याग करने वाला उपपातकी है ।

3. नारी की रक्षा न करना, ऋषियों को दान न देना ।

4. देवता, अग्नि, साधु-साध्वी, गौ तथा ब्राह्मण आदि की निन्दा करना । पितर और देवताओं का उच्छेद करना । अपने कर्त्तव्य का परित्याग करना आदि उपपातक हैं ।

5. नास्तिकता, दुश्शीलता करना तथा रजस्वला के साथ दुराचार करना, अप्रिय बोलना, फूट डालना आदि उपपातक कहे हैं ।

6. धन-धान्य, स्वर्णादि को प्रयत्न पूर्वक चुराने वाला, भगवत्भक्त को उत्पीडन देने वाला अपूज्यों की पूजा करने वाला ये सभी उपपातकी है तथा इनके कर्म उपपातक हैं ।

पातक और पातकी

गौ, ब्राह्मण शस्यसम्पदा, तपस्वी और साधुओं के दूषक । तपस्या करने वालों के छिद्रान्वेषक । पर्वत, गौशाला, अग्नि, जल वृक्षों की छाया, उद्यान, देवालय में मलमूत्र परित्याग करने से पातक

लगता है । पाखंडियों का अनुगमन करने वाला, नीचकर्म करने वाला दूसरों की गुप्त बातों को कान लगाकर सुनने वाला, असमर्थ की सेवा लेने वाला, दुर्बल एवं असहाय की सहायता न करने वाला निन्दनीय आचरण करने वाला पातकी होता है ।

हिंसा किसी भी तरह की (कायिक, वाचिक, मानसिक) क्यों न हो निन्दनीय है । चोरी करना, व्यभिचार करना, बलात्कार, निर्मम हत्या, मार-काट आदि करना । किसी वस्तु , धन-सम्पत्ति, व्यक्ति विशेष स्त्रीकन्या पुत्र-पुत्री आदि में से किसी का भी अपहरण करना आदि घृणित व निन्दनीय कुकर्म है । इन्हें ही शास्त्रों में महापातक माना गया है इसलिए ये सर्वथा त्याज्य हैं । अधर्मपूर्ण सभी कृत्य, पापफल देने वाले हैं । इन्हें निम्न प्रकार से भी समझा जा सकता है ।

१. अनैतिक कर्म के रूप में

इनके अन्तर्गत अन्याय, अनाचार, चोरी, डकैती, मारपीट करना, जहर देना, आग लगाना, षड्यंत्र पूर्वक अपने स्वार्थ की सिद्धि करना, दान देने की बात कहकर बदल जाना, रिश्वत या घूस लेना, दलाली व भ्रष्टाचार करना,अनुचित लाभ लेना, छिपकर अथवा छिपाकर कोई कार्य करना-करवाना, राजनैतिक स्वार्थ अथवा व्यक्ति के निजी स्वार्थ हेतु धर्म की, समाज के लाभ की, राष्ट्र की भक्ति या देश भक्ति की ऊँची-ऊँची आदर्श पूर्ण बातें कहना अथवा दिखावा करना आदि अनैतिक आचरण के अन्तर्गत आते हैं अतः ये पापकर्म हैं । इनका भी भोगफल भोगना पड़ेगा ऐसा जानना चाहिए ।

२. अकर्त्तव्य कर्म के रूप में

अकर्त्तव्यता के कर्म भी पाप फल देने वाले हैं । इनके अन्तर्गत बड़ों का आदर न करना, सत्य और सदाचार का पालन न करना,

धर्म शास्त्र के विधि निषेध के विधान को न मानना, कर्त्तव्य कर्म का पालन न करना, कर्त्तव्य कर्म अथवा स्वधर्म का त्याग करना, परधर्म को मानना आदि आते हैं। मद्य व नशीली वस्तुओं का सेवन करना भी उचित नहीं है। अतः अकर्त्तव्य कर्म से बचना चाहिए।

३. अधर्म के कर्म के रूप में

इसके अन्तर्गत सभी पातक आते हैं यथा चोरी करना, हिंसा करना, भूमि-स्त्री आदि का अपहरण करना, अत्याचार व शास्त्र अविहित कर्म करना। असत्य, अन्याय, असदाचार आदि के कार्यों के करने से पाप होता है। अधर्म का सूक्ष्म रूप पाप बनता है जिसके परिणाम स्वरूप विविध कष्टमय यातनाओं को भोगना पड़ता है।

४. असदाचार के रूप में

मानवीय आचरण से भिन्न आचरण करना, कलहपूर्ण व द्वेषपूर्ण व्यवहार वर्णन करना, असत्य भाषण करना, निन्दा करना, अन्याय के मार्ग में चलना, निषिद्ध आचरण करना आदि इसके अन्तर्गत आते हैं जो परिणाम में विविध दुःख-तकलीफ देते हैं।

५. कुकर्म के रूप में

सभी अधर्म के कृत्य क्रूर हिंसा, निर्मम हत्या, स्वार्थवश मनमाना आचरण व्यवहार करना, विविध प्राणियों अथवा जीवों का वध करना आदि कुकर्म के अन्तर्गत आते हैं।

६. निन्दित कर्म

निषिद्ध कर्म ही निन्दित कर्म हैं इनके करने से लोक निन्दा होती है यथा धोखा देना, दुर्व्यवहार करना, असदाचरण, अकर्त्तव्य कर्म व अधार्मिक कृत्य निन्दित कर्म के अन्तर्गत आते हैं। समझने

के लिए विभाग चाहे जितने कर लिए जावे, किन्तु ये सभी पापकर्म (पातक) हैं। सभी महापातक, उपपातकों के परिणाम स्वरूप नरक यातनाओं को भोगने के बाद भी जीव को विविध योनियों में भटकना पड़ता है।

ऐसा कहा गया है कि शरीर, मन, वाणी से किये गये पाप, बिना भोगे अन्य किसी प्रकार से कोटि कल्पों में भी नष्ट नहीं होते सभी शरीर धारियों को अपने कृत पापों के निमित्त यमलोक में विविध यातनाओं को भोगना ही पड़ता है।

इसके विपरीत परोपकार करना, सेवा, दया, क्षमा, क्रोध नहीं करना आदि सद्कर्म हैं। सत्य, न्याय, सदाचार, परस्वार्थ को सर्वश्रेष्ठ मान कर तद्रूप व्यवहार करना, अनीति से बचना शुभ कर्म हैं। धर्माचरण करना धर्मशाला, गौशाला, अन्नक्षेत्र-सदाव्रत, दवाखाना चिकित्सालय, निस्वार्थ सेवा करना आदि सुकर्म होने से, ये सभी धर्ममय अर्थात् पुण्य फल देने वाले हैं। मंदिर, कूप बनवाना, ब्लडबैंक जैसी योजनाएं प्रारंभ करना, वृक्षारोपणादि पुण्यफल प्रद होने के कारण शुभ कर्म हैं। ऐसे सद्कर्मों को करने वाले धर्मात्मा पुरुष स्वाभाविक ही नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों को करने से धार्मिक, आध्यात्मिक कर्मों में संलग्न होते हैं। यज्ञ-यागादि, अनुष्ठान-व्रतों जैसे सुकर्मों को करने से प्रायश्चित्त के कर्म अपने-आप हो जाते हैं। जिसके फल स्वरूप वे नाना लोकों में नाना योनियों में अनन्त सुखों को भोगकर, मोक्ष गति को प्राप्त करते हैं। उपर्युक्त शुभकर्मों का फल भी जीव को भोगना ही पड़ता है।

यहाँ यह बात अच्छी तरह से समझ लेने की है कि - अधर्म करने वाले प्राणियों के शास्ता यमराज कहे गये हैं। इस लोक में, चोरी, परस्त्री गमन, निर्मम हत्या आदि क्रूर कर्म करने वालों को राजादण्ड देता है किन्तु जो छिपकर पाप करते हैं, प्रायश्चित्त आदि

नहीं करते हैं । क्योंकि सत्यवादी चित्रगुप्त सभी शुभ-अशुभ गोपनीय कर्मों की जानकारी यथार्थ रूप में; धर्मराज को दे देते हैं जिससे वे समुचित निर्णय करते हैं । वे - धर्मात्माओं को सौम्य स्वरूप वाले धर्मराज के रूप में एवं अधार्मिकों को (पापियों को) विकराल, महाकाय यमराज के रूप में दर्शन देते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं । वे यमराज अपनी यमपुरी में भयंकर यमदूतों के सहित निवास करते हैं । यमदूतों के द्वारा पापी मनुष्य को, मृत्यु के पश्चात् क्रूरता पूर्वक यहाँ लाया जाता है तथा चित्रगुप्त से प्राप्त जानकारी के अनुसार, यमराज की आज्ञा से विचित्र-विकराल और भयंकर यमदूतों के द्वारा, विविध नरकों में गिराये जाते हैं । जहाँ प्राणी (जीव) को, अपने किये का दण्ड भोगना पड़ता है ।

यमराज की राजधानी यमपुरी में नरक लोक के अन्तर्गत विविध प्रकार के नरक हैं । इनमें श्रीमदभागवत् पुराण के अनुसार अट्ठाइस प्रकार के नरक प्रमुख हैं । जिनके नाम 1. तामिस्र 2. अन्ध तामिस्र 3. रौरव 4. महारौरव 5. कुम्भीपाक 6. कालसूत्र 7. असिपत्रवन, 8. सूकर मुख, 9. अन्धकूप, 10. कृमिभोज 11. संदंश, 12. तप्तसूर्मि, 13. वज्रकण्ठ शाल्मली, 14. वैतरणी, 15. पूयोद, 16. प्राणरोध, 17. विशसन, 18. लाला भक्ष्य, 19.सारमेयादन, 20. अविचि, 21. अयःपान, 22. क्षार कंदर्भ, 23. रक्षोगण भोजन, 24. शूलप्रोत, 25. दन्दशुक्र,26. अवट निरोधन, 27. पर्यावर्तन, 28. सूचीमुख हैं । यहाँ पापी मनुष्यों को लाकर विविध नारकी यातनाएं दी जाती हैं ।

अतः उपर्युक्त बातों को स्मरण रखकर ही विचार पूर्वक कर्म करना चाहिए । अब श्रीमद् भागवत पुराण के पाँचवें स्कन्ध में वर्णित अट्ठाइस प्रकार के विविध नरकों एवं विविध पाप कर्मों के फलस्वरूप नरकों में दी जाने वाली, नारकी यातना तथा नरक

लोक आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन करने के लिए अगला अध्याय प्रारंभ करते हैं।

छठवाँ अध्याय

नरक यातना तथा नरकलोक

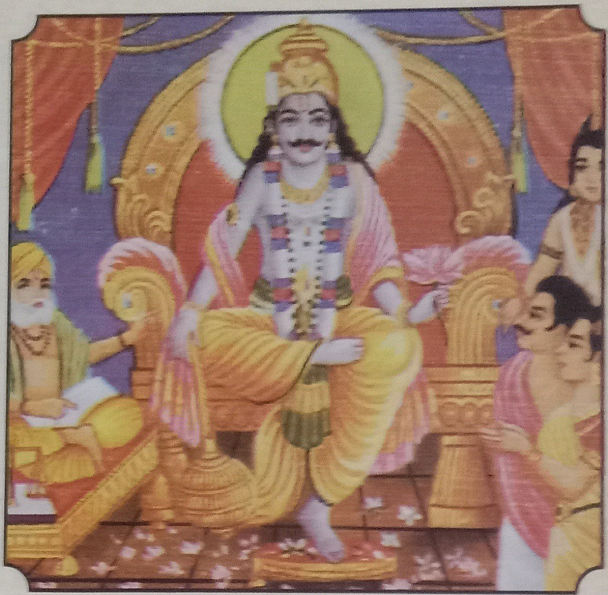
नरक यातनाओं एवं नरक का विस्तृत वर्णन -

कर्म करने वाले पुरुष सात्विक, राजस और तामस गुणों के भेदानुसार, श्रद्धा और स्वभाव में भी तीन तरह के होते हैं । जिस कारण उनके कर्मों की गतियाँ भी भिन्न-भिन्न और न्यूनाधिक रूप में, कर्म करने वाले (कर्त्ता) को, समयानुसार प्राप्त होती रहती हैं । निषिद्ध कर्म (पाप) करने वालों को उक्त असमानता के कारण, एक हीं तरह का पाप करने पर भी समान फल नहीं मिलता, अपितु कर्म फल के रूप एवं मात्रा में भिन्नता एवं न्यूनाधिक्यता होती है । इसलिए अनादि विद्या के वशीभूत होकर कामना पूर्वक किये हुए निषिद्ध कर्मों के परिणाम में अनेक तरह की नारकीय गतियाँ होती हैं ।

नरक त्रिलोकी के भीतर ही है । दक्षिण की ओर पृथ्वी के नीचे जल के ऊपर यह स्थित है । इस दिशा में अग्निष्वात्त आदि पितृगण रहते हैं । वे अपने वंशधरों के लिए अत्यंत एकाग्रता पूर्वक मंगल कामना किया करते हैं । इस नरक लोक में, सूर्य पुत्र, पितृराज यम, अपने सेवकों-अनुचरों व दूतों के सहित निवास करते हैं । वे भगवान की आज्ञा का उल्लंघन न करते हुए, अपने दूतों द्वारा वहाँ लाये गये मृत प्राणियों (आत्माओं) को उनके दुष्कर्मों के अनुसार, पापफल का दण्ड दिलवाने की व्यवस्था करते हैं । उसके लिए यहाँ नरक होते हैं । कुछ लोग नरकों की संख्या इक्कीस बतलाये हैं, वैसे श्रीमद्भागवत पुराण के पाँचवें स्कन्ध के षड्विंशोऽध्याय के



जीवात्मा के प्राण हरते हुये यमराज



अपने सहयोगी चित्रगुप्त की सहायता से
जीवों के कर्म का फल सुनाते धर्मराज



चोरी का फल



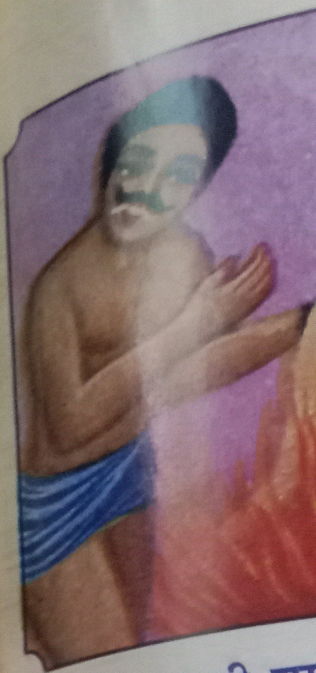
शिशु हत्या का फल



आत्म हत्या का फल



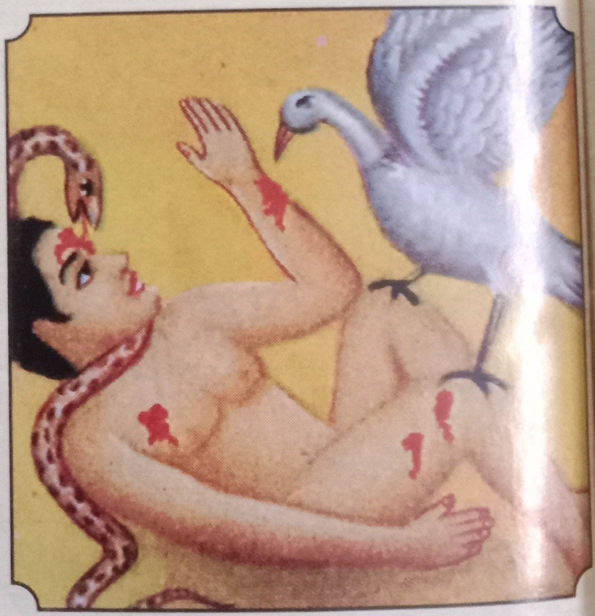
कुल का त्याग



पर नारी गम



मदिरा पान का फल



चुगली तथा झूठ का फल



व्यापारिक



त्याग



का फल



पर नारी गमन का फल



पर पुरूष गमन का फल



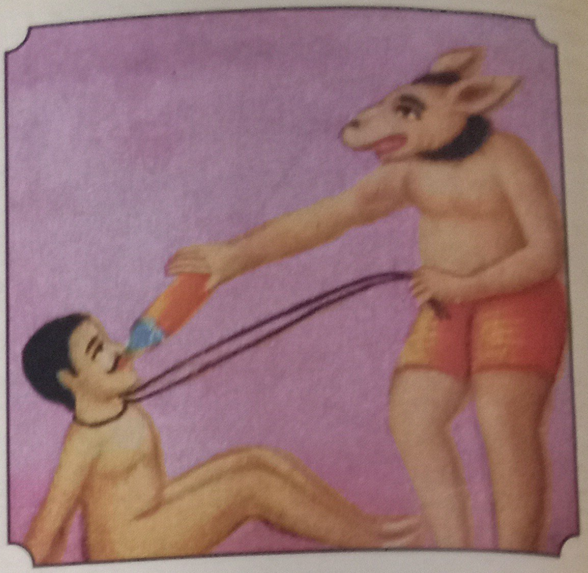
व्यापारिक बेईमानी का फल



विश्वासघात का फल



मॉस विक्रय का फल



विष देने का फल



वैतरणी नदी

अर्न्तगत अट्ठाइस प्रकार के नरकों का, विस्तृत वर्णन किया गया है। जिनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है ।

१. तामिस्त्रनरक

धन, सन्तान अथवा स्त्री हरण करने वालों को, अत्यन्त भयानक एवं विकराल यमदूत, जिनके शिर के बाल खड़े, दांत बाहर निकले हुए, विस्फारित अग्नि उगलते से लाल-लाल नेत्र तथा क्रोधातुर मुद्रा में, कालपाशसे बाँधकर बलात्कार से इस तामिस्त्र नरक में डाल देते हैं । कामातुर होकर व्यभिचार या बलात्कार करने वाले कामी के लोहमयी पुरुष या स्त्री के शरीर को गर्म खंम्भे से चिपकाया जाता है । अनेक तरह से यहाँ पीडित किया जाता है । इस अन्धकारमय नरक में अन्न जल न देकर डण्डे की मार आदि का भय दिखाया जाता है । यहाँ पापी वेदना के कारण अत्यन्त दुःखित होकर व मूर्च्छित होकर गिर जाता है ।

२. अन्धतामिस्त्र नरक

जो किसी दूसरे को धोखा देकर, उसकी स्त्री आदि को भोगता है वह इस नरक की यातना भोगता है । जड़ से कटे वृक्ष की तरह, असहनीय वेदना के कारण, अपनी सुध-बुध भूल जाता है । यहाँ की यातना के समक्ष प्राणी को कुछ नहीं सूझता ।

३. रौरव नरक

जो प्राणी (मनुष्य) यह शरीर ही मेरा है । ये शरीर ही मैं हूँ । ये स्त्री धनादि मेरे हैं ऐसा मानकर, दूसरे प्राणियों से द्रोह करता है, एवं सम्पूर्ण जीवन, अपने कुटुम्ब के पालन-पोषण में ही लगाये रहता है । वह अपना शरीर छोड़ने पर इस पाप के कारण स्वयं ही इस रौरव नरक में पड़ता है । जिन जीवों को कष्ट पहुँचाया होता है वे जीव रुग्ण होकर, परलोक में यम यातना पहुँचाने के लिए, तदनुरूप

(किये कर्म के अनुसार) उसे कष्ट पहुँचाते हैं । इस कारण इस नरक का नाम रौरव नरक है । रुरु सर्प की तरह एवं सर्प से भी अधिक क्रूर स्वभाव के होते हैं ।

४. महारौरव नरक

जो किसी की परवाह किये बगैर अपने ही शरीर के पालन-पोषण में लगा रहता है उसे इस नरक में रुरु कच्चा मांस खाने के लोभ से काटते हैं ।

५. कुम्भी पाक नरक

जो अपने उदर-पोषण के लिए, जीवित प्राणियों को मारकर राँधता है उसे यम यातना हेतु इस नरक में तप्ततेल डालकर राँधते हैं ।

६. काल सूत्र नरक

लोक में जो व्यक्ति माता-पिता, ब्राह्मण, वेद आदि का विरोध करते हैं, उसे इस नरक में यमदूतों द्वारा डाला जाता है । इसका घेरा दस हजार योजन का कहा गया है । तप्त मैदान होता है, जहाँ नीचे से आग की गर्मी तथा ऊपर से सूर्य का ताप दिया जाता है। भूखा-प्यासा जीव छटपटाने लगता है । शरीर में जितने रोम होते हैं उतने ही हजार वर्ष यहाँ पापी की दुर्गति होती है ।

७. असिपत्रवन नरक

जो किसी प्रकार की आपत्ति के आये बिना ही अपना वैदिक मार्ग छोड़कर अन्य पाखण्डपूर्ण आचरण का आश्रय लेता है उसके लिए यहाँ तलवार की तेज धार के समान तेज धार की पत्तियों वाले ताल वन होते हैं, जिनसे कटकर वह पापी जीवात्मा टुकड़े-टुकड़े हो जाता है । कटते समय अत्यन्त असहनीय पीड़ा वेदना के कारण

हाय मरा, हाय मरा चिल्लाचिल्लाकर मूर्च्छित होकर गिरने लगता है।

८. सूकर मुख नरक

लोक में जो राजा अथवा राजकर्मचारी या प्रशासनिक व्यवस्था का अधिकारी होकर निरापराधों को तथा ब्राह्मणों को दण्ड देता है यमदूत उसके अंगों को कुचलते हैं । कोल्हू में गन्ने की तरह पैर कट जाने का कष्ट देते हैं । प्राणी यहाँ आर्त होकर चिल्लाता है व मूर्छित हो जाता है ।

९. अन्धकूप नरक

खटमल आदि अन्य जीवों की जो हिंसा करता है । द्रोह के कारण इस अंधकूप नरक में प्राणी गिराया जाता है । जिन जीवों से द्रोह किया होता है, वे ही यहाँ काटते हैं । रोगग्रस्त शरीर धारी जीव की तरह प्राणी छटपटाता है, भटकता है । मनुष्य की वृत्ति विधि-निषेध वाली तथा अन्य जीवों की रक्तपान वाली बनायी है । इसलिए मनुष्यकृत द्रोह को पाप भी माना गया है ।

१०. कृमिभोज नरक

यह एक लाख योजन लम्बा कीड़ों का कुण्ड वाला नरक है । इसमें वे पापी गिराये जाते हैं जो बिना पंचयज्ञ किये, दूसरों को दिये बगैर खाता है । उसे यहाँ के निर्बल कीड़े नोचते खाते हैं वह भी यहाँ निर्बल कीड़ों को खाता रहता है ।

११. संदंश नरक

संदंश नामक इस नरक में स्वर्ण, रत्नादि की चोरी करने वाले को तपाये हुए लोहे के गोलों से दागा जाता है एवं संड़सी से खाल खींची जाती है ।

१२. तप्त सूर्मि नरक

अगम्या स्त्री या पुरुष के साथ व्यभिचार (संभोग) करने वाले को यहाँ कोड़े से पीटा जाता है । तप्त लोहे की स्त्री या पुरुष के आकार वाले खम्भे से यहाँ चिपकाया जाता है ।

१३. वज्रकण्टक शाल्मली

किसी पशु आदि के साथ व्यभिचार, मैथुनादि करने वाले को यमदूत वज्र के समान कठोर दाँतों वाले सेमर के झाड़ पर चढ़ाकर फिर नीचे की ओर खींचते हैं ।

१४. वैतरणी नरक

जो राजा अथवा राजपुरुष श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर भी धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं वे वैतरणी युक्त इस नरक में पटके जाते हैं । यह नदी नरकों के खाई के समान होती है जिसमें मल-मूत्र, पीव, रक्त, केश, नख, हड्डी, चर्बी, मांस और मज्जा आदि गंदी चीजें भरी होती हैं । यहाँ के विविध जीव जन्तु यहाँ पड़े पापी जीव को नोंचते-खाते हैं । बेचारा मन ही मन संतप्त होते रहता है ।

१५. पूयोद नरक

जो पापी पुरुष शौच आचार के नियमों को त्यागकर, शूद्रादि से सम्बंध जोड़कर पशुओं की तरह आचरण करते हैं, वे मरने के बाद पीव, विष्ठा, कफ, मूत्रादि से युक्त इस नरक में गिराये जाते हैं । वे यहाँ रहकर इन्हीं घृणित वस्तुओं को खाते हैं ।

१६. प्राणरोध नरक

जो ब्राह्मण आदि उच्च कुल में जन्म लेकर भी कुत्ते, गधे आदि पालते हैं व शिकार करते हैं । पशु वध आदि के कार्य में संलग्न रहने के कारण वे मरने के बाद बाणों से बींधे जाते हैं ।

१७. वैशस (विशसन) नरक

जो पाखण्ड पूर्ण पशुओं का वध यज्ञों में बलि के रूप में करते हैं, वे इस नरक में पीड़ा पूर्वक काटे जाते हैं।

१८. लाला भक्ष नरक

जो द्विज-कामातुर होकर अपनी सवर्ण भार्या को वीर्यपान कराता है, उस पापी के मरने के बाद यमदूत वीर्य की नदी में डाल कर वीर्यपान कराते हैं।

१९. सारमेयादन नरक

जो कोई चोर, राजा अथवा राजपुरुष किसी के घर में आग लगा देते हैं, विष पान कराते हैं, व्यापारियों की टोली को लूट लेते हैं। उन्हें इस नरक में वज्र की सी दाढ़ों वाले 720 यमदूत कुत्ते बनकर बड़े वेग से काटते हैं।

२०. अवीचिमान (आधारशून्य) नरक

व्यापार, दान, व्यवहार आदि में झूठ बोलने वाला, झूठी गवाही देने वाले को यहाँ लाया जाता है तथा सौ योजन ऊँचे पहाड़ के शिखर से नीचे सिर करके गिराया जाता है। पत्थर वाली भूमि ऊपर से जल के समान दिखाई देती है। टुकड़े-टुकड़े होने पर भी प्राण नहीं निकलते इसलिए बार-बार पटका जाता है।

२१. अयःपान नरक

जो ब्राह्मण-ब्राह्मणी व्रत में स्थित कोई भी प्रमादवश मद्यपान करता है अथवा क्षत्रिय या वैश्य में से कोई सोमपान आदि करते हैं, उन्हें यमदूत इस नरक में लाकर तप्त पिघला लोहा मुँह में डालकर पिलाते हैं।

२२. क्षारकर्दम नरक

निम्न श्रेणी के कुल में जन्म लेकर जो अपने को बड़ा मानकर जन्म, तप, विद्या, आचार, धर्म आदि में अपने से बड़ों का विशेष सम्मान नहीं करता, उसे मरने के बाद इस नरक में नीचे सिर करके गिराया जाता है ।

२३. रक्षोगण भोजन नरक

जो नर मद्यादि के द्वारा भैरव, यक्ष, राक्षस, आदि का यजन करते हैं तथा जो स्त्रियाँ पशुओं की तरह पुरुषों को खा जाती हैं, उनकों इस नरक में वे ही प्राणी भयानक राक्षस योनि में उपस्थित होकर उनका मांस खाते व रक्त पीते हैं तथा विविध पीड़ायें देते हैं।

२४. शूलप्रोत नरक

जो लोग गाँव या वनों के विविध प्राणी व पशुओं को, तरह तरह के उपायों से फुसलाकर या धोखा देकर अपने पास बुला लेते है और फिर काँटे से वेधकर या रस्सी से बाँधकर खिलवाड़ करते हुए पीड़ायें देते हैं उन्हें इस नरक में बन्द रखकर भूख-प्यास से युक्त पीड़ायें दी जाती हैं । यहाँ के प्राणी उसे नोचते खाते हैं ।

२५. दन्दशूक नरक

ऐसे व्यक्ति जो सर्पों के समान उग्र स्वभाव वाले हैं तथा दूसरे जीवों को पीड़ा पहुँचाने वाले हैं, उन्हें उक्त नरक में पंचमुख और सात मुख वाले सर्प समीप आकर चूहों की तरह निगल जाते हैं ।

२६. अवट निरोधन नरक

जो दूसरों को अंधेरी खंत्तियों, कोठो या गुफाओं डाल देते हैं उन्हें यमदूत विषैली (आग के) धूम से युक्त बन्द कक्ष में डालकर घोंटते हैं ।

२७. पर्यावर्त्तन नरक

आये अतिथि, अभ्यागत की ओर जो द्वेषभाव से वक्र दृष्टि से अथवा क्रोधावेश से देखता है, उसे इस नरक में पड़ने पर कंक, गिद्ध, काक, वटेर आदि वज्र की सी कठोर चोंच से नोचते तथा आँख आदि इन्द्रियों को बलात् निकाल लेते हैं ।

२८. सूचीमुख नरक

जो अपने को धनवान् समझकर अभिमानवश सभी को टेढ़ी नजर से देखता है और सभी पर संदेह रखता है । धन के रक्षण में ही लगा रहता है, उस अर्थपिशाच पापात्मा के सभी अंगों को यमदूत दर्जियों के समान सूई धागे से सीते हैं ।

यमलोक में अनेक नरक हैं, जहाँ अधर्मपरायण मनुष्य को बारी-बारी से ले जाया जाता है तथा कर्मानुसार नारकी यातनाएँ दी जाती हैं । पुण्यात्मा भी पुण्यों के प्रभाव से स्वर्ग जाते हैं और पुण्यक्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में जन्म लेते हैं । पापी पुरुष भी विविध नरक यातनाओं को भोगकर अन्त में मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं ।

इस तरह नरक लोक तथा उसके भोग से मनुष्य का घनिष्ठ संबन्ध है । मृत्यु के बाद पापी जीवों को पापकर्म भोग के लिए जो देह प्राप्त होता है, उसको शास्त्रों में यातना देह कहा गया है । यथा-

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।
शरीरं यातना हेतोरन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ।।

अर्थात् पापफल भोगने के लिए पंचभूतों के सूक्ष्मांश से एक यातना देह प्राप्त होता है । मनु संहिता के बारहवें अध्याय में भी नरक के सम्बंध में बहुत कुछ वर्णन किया है ।

यथा यथा निषेवन्ते, विषयान् विषयात्मकाः ।

तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ।।
तेऽभ्यासात् कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि, तासु तास्विह योनिषु ।।
तामिस्रादिषु चोग्रेषु, नरकेषु विवर्त्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि, बन्धनच्छेदनानि च ।।
विविधाश्चैव सम्पीडा काकोलूकैश्च भक्षणम् ।
करम्भबालुकातापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ।।
बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात् ।
संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ।।

अर्थात् विषय भोग में विमोहित मनुष्य जितना अधिक विषयों का सेवन करता है, उतना ही अधिक उसमें निपुण होते जाता है । उन पाप कर्मों के फल से उसे तामिस्र, असिपत्रवन आदि नरकों में भयानक यातनाएँ भोगनी पड़ती है । यथा- काक, उलूक आदि के द्वारा नोचना, खाना, लदी हुई बालुका पर गमन करना, कुम्भी पाक के दारुण दुःख भोग आदि भीषण क्लेश पापी जीवों को नरकलोक में भोगना पड़ता है । इस प्रकार बहुत वर्षों तक अनेक कष्ट भोगने के बाद पाप क्षीण होने पर पुनः जीव का इस जगत् में जन्म होता है ।

मृत्यु के बाद यमलोक जाते समय जीव को किस-किस प्रकार के क्लेश सहना पड़ता है ? इस विषय में भी श्रीमद्भागवत् पुराण में वर्णन मिलता है । यथा -

यातनादेहमावृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् ।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ।।
तयोर्निर्भिन्न हृदयस्तर्ज्जनैर्जातवेपथुः ।
पथिश्वनिर्भक्ष्यमाण आर्त्तोऽघः स्वमनुस्मरन् ।।

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः ,
सन्तप्यमानः पथि तप्त बालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कषया च ताड़ित-
श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रयोदके ।।
तत्र तत्र पतन् श्रान्ता, मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम् ।।
योजनानां सहस्राणि, नवति नव चाध्वजः ।
त्रिभिर्मुहूर्त्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ।।

अर्थात् जिस प्रकार राजकर्मचारीगण दण्डनीय अपराधी मनुष्य को कष्ट देते हुए ले जाते हैं, उसी प्रकार यमदूतगण गले में रस्सी बाँधकर जीव को नाना प्रकार का कष्ट देते हुए दूरवर्ती यमलोक को बलात् ले जाते हैं । दुःख से कातर हृदय एवं यमदूतों की यातना से काँपते हुए पापी जीव उस समय अपने किये पापों का स्मरण करते हुए यमलोक को जाते हैं । भूख-प्यास से व्याकुल, उग्र सूर्य ताप, अग्नि, गर्म वायु से व्यथित, तपे हुए बालुका के ऊपर चलने से संतप्त, पीठ पर कोड़ों की मार से और भी दुःखित, बहुत दूर चल सकने में अशक्त होने पर भी पापी को बलपूर्वक खिंचे हुए जाना पड़ता है । अत्यधिक कष्ट एवं श्रम के कारण उसे मूर्च्छा आ जाती है । मूर्च्छा टूटते ही पुनः यमदूत उसे घसीटते हैं । इस तरह हजारों योजन का मार्ग दो-तीन मुहूर्त में यानि अत्यन्त कम समय में तय करना पड़ता है । इस प्रकार पापी जीव को बड़ी वेदना के साथ कष्ट भोगना पड़ता है ।

इसके आगे यमराज की यमपुरी-यमलोक में पहुँचकर अपने कर्मानुसार पापी को जो दुःख भोगना पड़ता है, इस संदर्भ में उल्लिखित अट्ठाइस प्रकार के प्रमुख नरकों की यातनाओं का स्मरणात्मक वर्णन यहाँ करते हैं ।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि पापी पुरुष का शरीर अग्नि शिखा के बीच में रखकर जलाया जाता है । कभी-कभी दूसरा उसका मांस काटकर खिलाता व खाता है । उसके शरीर की अतड़ियाँ कुत्ते अथवा गिद्ध द्वारा बाहर निकाली जाती है। साँप, बिच्छू आदि विषैले जन्तु से उसे कटवाया जाता है । उसका शरीर काटकर टुकड़ा-टुकड़ा कर दिया जाता है । हाथी के पैर से कुचलाया जाता है । बहुत ऊँचे पर्वत से नीचे गिराया जाता है । जलपूर्ण गड्ढे अथवा तप्त तेल से युक्त कढ़ाहे में डुबोया जाता है , इत्यादि नाना प्रकार के क्लेश देने के लिए तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव आदि नरकों में स्त्री-पुरुष को डाला जाता है । उक्त यातनाओं को भोगकर अन्त में समान पाप-पुण्य होने पर पुण्यों के प्रभाव से जीव योनियों में जन्म लेते हुए मनुष्य शरीर को प्राप्त करता है । गरुड़ पुराण में भी नरक यातना का वर्णन है, जो इस प्रकार है ।

नरक में कहीं तीव्र अग्नि जलती है । यमदूतगण पापी को उसमें फेंक देते है । उसका शरीर जल जाता है । वेदना के कारण वह इधर-उधर दौड़ता है । पद-पद पर पैर जलते हैं । कहीं-कहीं घटीयन्त्र की तरह बाँधकर घुमाया जाता है, जिससे रक्त का वमन होने लगता है । कष्ट से अधीर होकर पापी जीव 'हा माता ! हा पिता ! हा भाई ! इत्यादि करुणस्वर से हाहाकार करता रहता है। यथा -

पदे पदे च पादोऽस्य जायते शीर्य्यते पुनः ।
घटि यन्त्रे बद्धा ये बद्धास्तोयघटी यथा ।।
भ्रामयन्ते मानवाः रक्तमुद्यन्तः पुनः पुनः ।
हा मातपतिस्ताततेति क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।।
दयमानाङ्घ्रियुगला धरणिस्थेन वह्निना ।

जमीन पर की अग्नि से उसके पाँव जलते हैं । कहीं जलाये

जाते हैं, कहीं काटकर खण्ड-विखण्ड किये जाते हैं और कहीं जल में डुबोया जाता है । जीव कुम्भीपाक रौरवादि नरकों में नाना यातनाएँ भोगता है । ऐसे ही वैतरणी नदी पार होते समय पापीगण विलाप करने लगते हैं । अपनी आत्मा को सम्बोधन कर कहते हैं- हे देहिन ! मैंने दान, हवन्, यज्ञ, तप आदि कुछ नहीं किया । देवपूजन, तीर्थसेवन भी विधिवत् नहीं किया । मैंने ब्राह्मणों की पूजा नहीं की । स्वर्ग दायिनी गंगा की शरण नहीं ली । साधुओं की सेवा नहीं की । मैंने जल रहित क्षेत्र में कोई प्याऊ या जलाशय कूपादि नहीं बनवाया । गौ-ब्राह्मणों को पालने हेतु कोई दान नहीं किया । इस कारण परोपकार-धर्मादि न करने का फल अब भोगना पड़ रहा है । अतः हे देहिन् भोगफल भोगो । यथा -

मया न दत्तं हुतं हुताशये,
तपो न तप्तं त्रिदशा न पूजिता
न तीर्थ सेवा विहिता विधानतो,
देहिन् क्वचिन्नि स्तर यत् त्वयाकृतम्

स्त्री भी इसी तरह अनुतप्त होकर विलाप करती है कि मैंने कभी पति को हितकारी प्रिय वाक्य नहीं कहा । पातिव्रत धर्म का भी कभी पालन नहीं किया । उन्हें गुरु के समान गौरव प्रदान नहीं किया । मैंने धर्म बुद्धि से पति सेवा नहीं की । मृत पति के साथ जलती चिता में प्रवेश नहीं किया । न ही वैधव्य दशा में तपोधर्म का पालन किया । इस कारण हे देहिन् ! अपने कर्मों का फल भोग करो । यथा -

भर्तुर्मया नैव कृतं हितं वचः,
पतिव्रतं नैव कदापि पालितम् ।
वह्नि प्रवेशो न कृतो मृते पतौ ।
वैधव्यमासाद्य तपो न सेवितम्।

देही क्वचिन्निस्तर यत् त्वया कृतम् ।।

इस प्रकार अपने अशुभ कर्मों के फलस्वरूप पापी स्त्री-पुरुष दोनों ही मृत्यु के अनन्तर उपर्युक्त नाना प्रकार की यातनाएँ पाते व पश्चात्ताप करते हैं ।

जैसे स्वर्ग सुख भोग के लिए पितृलोक और नाना श्रेणी के स्वर्ग लोक हैं, आसुरी सुखभोग के लिए भी नाना असुर लोक है। नाना दुःखभोग के लिए नाना नरकलोक भी होते हैं । बतलाया जा चुका है कि ये सब लोक भगवान् यम धर्मराज की राजधानी के अन्तर्गत जेलखाने की तरह स्थित हैं । नरक लोक एवं प्रेत लोक की व्यवस्था का नियमन अनुशासनादि भगवान् यम-धर्मराज के हाथों रहता है ।

स्वर्ग के सुख अथवा नरक के दुःख भोगने के पश्चात् जीव बाकी रहे सुख-दुःख को मृत्यु लोक में मनुष्य शरीर प्राप्त करके भोगता है । यहाँ मनुष्य शरीर में सुख-दुःख भोग के साथ नये पुरुषार्थ करने का अवसर मिलता है । भोग योनियों में विविध भोगों को भोग करके मनुष्य शरीर से अवशेष सुख-दुःख के भोगों को भोगते हुए जीव नये शुभ कर्मों का संग्रह कर सकता है तथा पुण्यात्मा बन सकता है । मनुष्य जीवन के अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है ।

स्मरण रखें कि छिपाकर, वाक्चातुरी से, किसी पद या अर्थ के प्रभाव से अथवा व्यक्ति विशेष के अधिकार का आश्रय लेकर इस लोक में किये अशुभ कर्मों के फल भोग से आप बच सकते हैं किन्तु ईश्वर की नियमन व्यवस्था में नियत यमराज आदि के दण्डनीय प्रशासन से नहीं बच सकते ।

अतः उपर्युक्त समस्त बातों को ध्यान में रखकर अशुभकर्मों के संग्रह से बचकर शुभ कर्मों (पुण्य) का संग्रह करना चाहिए । क्योंकि

इस कर्मभूमि में पुरुषार्थ करने के लिए मनुष्य शरीर में ही मौका मिला है ।

जब से समझ आ जाय तब से ही शुभ कर्म रूप-पुण्य संग्रह के कार्य में संलग्न हो जाएँ । यही भाव है 'अब तक रोटी जली सो जली, पर अब और न जलने पाये' इस वाक्य का ।

नरक लोक एवं नरकलोक की विविध यातनाओं के विस्तृत वर्णन के पश्चात् अब जीवों के कर्मों की जो शृङ्खला अबाध गति से चल रही है, उसके रहस्य को समझाने के लिए अगले अध्याय को प्रारंभ करते हैं ।

सातवाँ अध्याय

कर्मशृङ्खला जीवभाव का कारण

कर्मश्रृंखला की अबाध गति के विषय में विचार करने पर पता चलता है कि जिस तरह समुद्र की तरंगें क्रमशः एक के बाद एक निरन्तर समुद्र के किनारे तक आती रहती हैं उसी तरह कर्मों की श्रृंखला भी निरन्तर संचित प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म के रूप में चलती रहती हैं। यही कर्मश्रृंखला जीव को मानव शरीर की उपलब्धि कराकर पुनः विविध कर्मभोग, फिर नवीन कर्म, पुनः कर्म भोग लोक-लोकान्तरों में दुःख-सुख के रूप में अनुभव कराते हुए अज्ञान में डाले रहती है। यही अज्ञान आत्मा का जीवभाव है।

भगवान् शङ्कराचार्य जी अपने भाष्य में लिखते हैं कि - '**न हि निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, किमपेक्षते धर्माधर्मौ अपेक्षते इति वदामः।**' अर्थात् ईश्वर ने धर्माधर्म की अपेक्षा (दृष्टि) से विषम सृष्टि का निर्माण किया है। निरपेक्ष होकर सृजन का (निर्माण) कार्य नहीं किया है। तात्पर्य यह है कि विषम सृष्टि का निर्माण जीवों के धर्माधर्म बुद्धि के कारण किया गया है। भगवान् ने अकारण ही विषम सृष्टि का निर्माण नहीं किया, अपितु जीवों के द्वारा धर्माधर्म बुद्धि से किये गये कर्मों के कारण विषम सृष्टि का निर्माण किया है। अतः कर्मों के विषय में प्रश्न उठता है कि - **कर्म केन भवति चेत् ?** यदि कहूँ कि यह कर्म कौन कराता है तो इसका उत्तर है - **रागादिभ्यः** अर्थात् राग-द्वेष। कहना होगा कि सुख में राग एवं दुःख से द्वेष होने के कारण प्राणी

सुख और सुख के साधनों को प्राप्त करने के लिए कर्म करता है। इसी प्रकार दुःख और दुःख के कारणों की निवृत्ति हेतु कर्म करता है । लोक में भी देखा जाता है कि मनुष्य जीवन भर सुख और सुख के साधनों को जुटाने का कार्य करता व दुःख और दुःख के कारणों को हटाने अथवा उनसे बचने हेतु प्रयास कार्य करते रहता है । जिस कारण उससे (मनुष्य से) पाप-पुण्य के कर्म होते रहते हैं और परिणामस्वरूप जीव को उसके कर्मानुसार (पाप-पुण्यानुसार) विविध शरीरों की प्राप्ति होते रहती है ।

अब यदि प्रश्न उठाया जाय कि ये राग-द्वेष आत्मा में कहाँ से आये ? तो इसका उत्तर है - अहंकार से आये और अहंकार अविवेक से उत्पन्न होता है एवं अविवेक का नाम ही अज्ञान है । अज्ञान आत्मा में कहाँ से आया ? कहने पर कहना होगा कि अज्ञान अनादि है । सत् - असत् से भिन्न अनिर्वचनीय है । अज्ञान ज्ञान का विरोधी भावरूप है । अभिप्राय यह है कि उस अज्ञान से अविवेक, अविवेक से अहंकार और अहंकार से राग-द्वेष उत्पन्न हुए तथा राग-द्वेष के कारण पाप-पुण्य कर्म होते हैं । इन पाप और पुण्य के कर्मानुसार जीव को शरीर की प्राप्ति हो जाती है । शरीर द्वारा इन्द्रियों के माध्यम से कर्म होते हैं । अन्तःकरण जन्य अहंता ममता के भाव से युक्त होकर प्राणी कर्त्तापन का अनुभव करता है ।

राग-द्वेष के कारण कर्मों की संचलित प्रक्रिया कर्मों की शृंखला के रूप में अबाध गति से कालान्तर से चली आ रही है । ऐसा कहा जाता है कि जब जीव के जन्मजन्मान्तर, युग-युगातर और कल्प कल्पान्तर के पुण्यों का उदय होता है, तब उसे मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है । यह अवस्था पुण्य और पाप की साम्यावस्था मानी जाती है । कर्मों की शृंखला अनादि काल से जीवात्मा के साथ संचलित है, जिस कारण अनादि काल से ही सृष्टि में विषमता बनी

हुई है । यह विषमता क्या है ? कोई देवता है तो कोई मनुष्य है, कोई पशु है तो कोई पक्षी है, कोई लंगड़ा एवं अस्वस्थ है तो कोई पूर्ण स्वस्थ है । कोई रिक्शे में बैठा है तो कोई रिक्शा चला रहा है । कोई दीन-हीन है तो कोई ऐश्वर्यादि से सम्पन्न श्रीमन्त है । इन विवरणों से स्पष्ट होता है कि उदार, दयालु एवं समदर्शी कृपालु परब्रह्म परमात्मा के द्वारा बनायी सृष्टि में विषमता का कारण मनुष्य कृत कर्मों में भिन्नता ही है क्योंकि शरीर की प्राप्ति शुभाशुभ कर्मों के कारण होती है तथा कर्म जड़ होने से फल नहीं दे सकते । अतः चेतन सत्ता के रूप में ईश्वर ही कर्मफलों की अपेक्षा (दृष्टि) से फल भोग उपलब्ध होने के लिए प्रेरणा देते हैं, व्यवस्था करते हैं, आदि। इस तरह जीवात्मा के साथ कर्मों की श्रृंखला अनादि काल से अबाध गति से चली आ रही है ।

जीवभाव को शास्त्रों में चिज्जड़ग्रन्थि कहा है । ग्रन्थि अर्थात् गाँठ । चित् एवं जड़ की ग्रन्थि (गाँठ), जीव का बन्धन है तथा इस गाँठ का खुलना (जीव का) मोक्ष है । यथा -

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

तात्पर्य है कि चित् एवं जड़ की ग्रन्थि जीव भाव है । परमात्मा के दर्शन होने से (यह चिज्जड़ग्रन्थिरूपी) हृदयग्रन्थि खुल जाती है। तब सारे संशय छिन्न हो जाते हैं एवं शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं । परिणामस्वरूप जीवात्मा का परमात्मा में एकाकार होकर मोक्ष हो जाता है ।

पूर्व में कहा जा चुका है कि सर्वव्यापक चिन्मय भगवान् की चित् सत्ता से चेतनता प्राप्त कर महा प्रकृति स्पन्दित होती है और अनन्त सृष्टि का विस्तार किया करती है । सृष्टि विस्तार में महा प्रकृति की दो प्रकार की गति स्वभावतः होती है । एक जड़ से

चेतन की और दूसरी चेतन से जड़ की ओर। अर्थात् तम से सत्त्व की ओर एवं पुनः सत्त्व से तम की ओर । महाप्रकृति अर्थात् मूलप्रकृति, जो अनिर्वचनीयत्व आदि सत्त्व, रज और तम गुणधर्म वाली है । इसमे (इस महाप्रकृति में) स्पंदन तीन गुणों में से होकर गुणातीत तक होती है । यथा -

पूर्ण सत्त्व से सत्त्वरज, सत्त्वरज से पूर्ण रज । पूर्ण रज से रज-तम, रज-तम से पूर्णतम एवं पूर्ण तम से गुणातीत; तथा गुणातीत से पुनः सत्य के प्रारंभ की ओर से होकर पूर्ण सत्य की ओर गति होती है ।

गुणातीत अवस्था निर्गुण, निराकार, सदसदभिन्न, परब्रह्म, परमात्मा ही है । यहाँ महाप्रकृति, अनिर्वचनीयत्व ग्रहण कर लेती है । इस अवस्था में जब तीनों गुणों का तरंगवत् परस्पर स्पन्दन होता है तब सत्त्व, रज, तम प्रधान में रजोगुण के आवेश के कारण सृजनात्मक क्रिया शक्ति के उद्भूत होने से सर्वव्याप्त परब्रह्म परमात्मा की चेतन से चिदंश पानी में बुलबुले की तरह; जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब की तरह, असंख्य चिज्जड़ग्रन्थि के रूप में त्रिगुणमयी महाप्रकृति के विराट् प्रधान में एकत्रित होकर अहम् स्फुरणा करते हैं । इसलिए अहंकार के अस्तित्व में आ जाने से जीव भावोत्पत्ति हो जाती है । अतः जीव भावोत्पत्ति का मूल कारण अहंकार माना गया है ।

अहंकार से ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है । सारा संसार इससे प्रकट हुआ है । पूर्ण सत्त्वगुण की अवस्था में सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म में लीन रहती है एवं रजोप्रधान सत्त्व तम की मिश्रित अवस्था में सृजन होता है । सत्त्वप्रधान रज-तम् की मिश्रित अवस्था में पालन होता है तथा तम् प्रधान सत्त्व-रज की मिश्रित अवस्था में संहार अर्थात् लय होता है । तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुणाधिक्य की अवस्था पालन स्थित की है । यहाँ से ही सृजनात्मक शक्ति

रजोगुणाधिक्य वाली उत्पन्न होती है, जो सृजन करती है एवं वहाँ से ही विनाशकारक शक्ति तमोगुणाधिक्य वाली उत्पन्न होती है । जो स्थित का संहार या विनाश करती है । पूर्ण तम् के पश्चात् मात्र सत् ही अवशेष रहता है, जिसे गुणातीत कहा है । इसे न सद्, न असद् न सदसद्, सदसदभिन्न स्वीकारते हुए अनिर्वचनीयता व्यक्त की है । इसी अवस्था से आबद्ध होकर त्रिगुणमयी महाप्रकृति में सत्त्वगुण के उद्रेक से सत्त्व, रज पूर्णतथा तम का मिश्रित उद्भव होकर रजोगुणाधिक्य की स्थिति आती है, जिसमें सृष्टि सृजन होता है ।

यह सृष्टिक्रम महाप्रलय के बाद जीव के प्रथम शरीर प्राप्ति और विनाश अर्थात् जन्म मृत्यु के लिए निश्चित है। इस प्रकार समष्टि-व्यष्टि दोनों रूपों में सृष्टि, स्थिति और विनाश तथा पुनः उद्भूत होने की प्रक्रिया को समझाया गया । जीव भाव यही है कि प्राणी (मनुष्य) अपने आप को अहम् वृत्ति के कारण शुभाशुभ कर्म का कर्त्ता अथवा सुख-दुःख के अनुभव के आधार पर उनका भोक्ता मान लेता है । जीवभाव में जीवात्मा को अहंकारजन्य तीन शरीर की प्राप्ति होती है । जिनके नाम हैं - कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर । स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर के प्राप्ति का कारण होने से तथा जीवभाव की प्राप्ति का भी कारण होने से इसे कारण शरीर कहा जाता है । यथा -

अनिर्वाच्याऽनाद्यविद्यारूपा स्थूल सूक्ष्म शरीरकारण मात्रं स्वस्वरूपाज्ञानं यदस्ति तत्कारणशरीरम् ।।

अविद्या स्वरूप स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीरों का कारण मात्र अपने ही स्वरूप की अज्ञानमयी जो सत्ता है, उसको कारण शरीर कहते हैं । इस कारण शरीर के उत्पन्न होते ही जीव में अहम् भाव का भी सूक्ष्म विकास होता है। इस कारण जीव के भीतर भोगादि की प्रेरणा होती है । इसी प्रेरणा से भोग के निमित्त कारण शरीर

के ऊपर सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है ।

अभिप्राय यह है कि आत्मा की प्रेरणा से आकाश में क्रिया का स्फुरण होता है । उसी से इन्द्रिय, मन, बल एवं सूक्ष्म प्राणों का विकास होता है । प्राणों के स्पन्दन से क्षुधा-पिपासा का विकास होते ही उसके निवारण के लिए मुख उत्पन्न होता है एवं मुख में तालु; रस ग्रहण के लिए रसनेन्द्रिय का विकास होता है । अनन्तर बात करने की इच्छा होने पर वाक् इन्द्रिय का विकास होता है । इसी प्रकार प्राण वायु के अत्यन्त संचार से घ्राणेन्द्रिय का विकास होता है । अविद्योपहित चैतन्य में अहम् भाव की उत्पत्ति के कारण उसी की प्रेरणा से सूक्ष्म शरीर आकृष्ट हुआ करता है । सूक्ष्म शरीर सत्रह सूक्ष्म उपादानों का बना होता है ।

बुद्धि कर्मेन्द्रिय प्राणपञ्चकैर्मनसाधिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते ।।

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन एवं बुद्धि (चित्त, अहंकार के सहित) से यह सूक्ष्म शरीर बनता है । नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वक् में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पञ्चप्राण हैं । इन सभी इन्द्रियों का अभिप्राय स्थूल गोलक न होकर, इनकी शक्तियों से है । उदाहरण के लिए दृष्टेन्द्रिय अर्थात् देखने की शक्ति (युक्त नेत्र में स्थित क्षमता) । इसी तरह श्रवणेन्द्रिय अर्थात् स्थूल कान नहीं अपितु उनसे सुनने की क्षमता शक्ति आदि । अत्यन्त सूक्ष्म होने से ये सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत माना गया है । पञ्चप्राण भी उनकी सूक्ष्म शक्ति के रूप में हैं । पहले बतलाया जा चुका है कि मन का काम संकल्प-विकल्प करना है एवं बुद्धि का काम विचार करना, निश्चय करना आदि है । मन, बुद्धि एवं चित्त द्वारा उपार्जित सब संस्कारों का आधार है अहंकार।

बुद्धि के मूल में अहंकार रहता है । अतः कहना होगा कि अहंकार ही बुद्धि के मूल में रहकर जीवात्मा में कर्त्तृत्व का भ्रम आरोपित करता है । सूक्ष्म शरीर के उद्भूत होने पर सूक्ष्म शरीर के ही वेग से पञ्चभौतिक स्थूल शरीर उत्पन्न होता है ।

चूँकि सूक्ष्म शरीरस्थ सूक्ष्म इन्द्रियों के भोग हेतु यन्त्र रूप स्थूल इन्द्रियों की आवश्यकता होती है । इसलिए सूक्ष्म मन के साथ दशों इन्द्रियों में भोग के निमित्त, प्रेरणा उत्पन्न होने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से स्थूल शरीर उत्पन्न होकर सूक्ष्म शरीर को आच्छादित करके रहता है । इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा में व्यापक रूप से व्याप्त महाप्रकृति में स्पन्दन चेतन की स्वाभाविक स्फुरणा द्वारा जीव भाव की उत्पत्ति एवं उसके साथ कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर का सम्बन्ध हुआ करता है ।

उक्त तीनों शरीरों को पञ्चकोष भी कहा जाता है । पञ्चभौतिक स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं । पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चप्राण मिलकर प्राणमय कोश कहलाते हैं तथा पञ्चज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि मिलकर विज्ञानमय कोश कहलाते हैं । अनादि, अविद्यामूलक कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहा जाता है । इन तीनों स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों अथवा पञ्चकोशों यथा - अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों से आवृत चेतन सत्ता जीव कहलाती है । यह जीव अनादि अविद्या के प्रभाव से चौरासी लाख योनियों में अनेकों बार भटकते-भटकते अन्त में मनुष्य योनि किन्ही सुकृत कर्मों के प्रभाव से प्राप्त करता है किन्तु नवीन कर्मों का अवसर मिलने पर भी पुनः अशुभ-पापयुक्त शास्त्र अविहित कर्मों को करने में लग जाता है । भगवान् के उपदिष्ट निष्काम कर्म योग, शास्त्रविहित कर्म, प्रायश्चित्त कर्म आदि की उपेक्षा करके शुभाशुभ कर्मों में मनमाने ढंग से प्रवृत्त बना रहता तथा अपने आपको कर्त्ता

भोक्ता मानता रहता है । परिणामस्वरूप कर्मों की श्रृंखला अबाधित रूप में अविच्छिन्न सी बनी रहती है ।

इस तरह प्राणी (मनुष्य योनि में जीव) और प्रारब्ध कर्मफल के रूप सामने आते हैं, जिनसे विविध योनियों में जीव भ्रमण करता रहता है । कर्मफल भोगता रहता है और जन्म-मरण का चक्र बना रहता है । यह कर्मश्रृंखला पुनः-पुनः गति प्राप्त करती रहती है तथा अबाध गति से निरन्तर जीव के बिना न चाहते हुए भी शुभाशुभ कर्म करना व भोगना पड़ता है । अतः इस श्रृंखला का उच्छेद करना चाहिए । इसके लिए गीता मार्ग दर्शन करती है -

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,

नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-

मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।।

अर्थात् संसाररूपी पीपल के वृक्ष का स्वरूप जैसा दिखता है, विचार करने पर, वैसा नहीं पाया जाता, क्योंकि इसका कब से प्रारंभ हुआ इस बात का पता नहीं एवं कब इसका अन्त होगा इस बात का पता नहीं, आदि । संसार में क्षणभंगुरता बनी हुई है । इस नाशवान् संसार का अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलों के सहित असंगतारूपी दृढ़ वैराग्य द्वारा उच्छेद करना चाहिए ।

अभिप्राय यह है कि असंगता का आश्रय लेकर अहंता, ममतामय वासना का त्याग करने से समस्त बन्धनों से मुक्त हुआ जा सकता है । इस तरह कर्मश्रृंखला की अनादि तथा अनवरत गति पर नियन्त्रण किया जा सकता है व इसे रोका जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि बिना संस्कार के क्रिया नहीं होती और क्रिया के बिना जीव प्रकृति के उन्नतिशील प्रवाह में अग्रसर नहीं हो सकता । इसलिए चिज्जड़ग्रन्थि संस्कार के द्वारा जीव भाव के विकास के बाद जीव

को प्रकृति के प्रवाह में अग्रसर होने के लिए क्रिया की आवश्यकता पड़ती है । इस बात के लिए चेतन को प्रेरणा से प्रकृति में स्पन्दन होता है तथा यह प्रकृति स्पन्दन ही क्रिया है। सत्त्वगुणादि का परस्पर-तरंगवत् उठना व विलय होना ही मूल प्रकृति की स्पन्दन क्रिया है । इनमें सत्त्वगुण के उद्रेक से ही असार संसार की क्षणभंगुरता को देखकर, विचार कर वैराग्य हो जाता है, जिससे वह (जीव) उक्त स्पन्दनजन्य सत्त्वगुण के प्रवाह में वैराग्य का आश्रय लेकर अपनी उन्नति क्रमशः कर सकता है । विविध सद्गतियों को प्राप्त कर सकता है ।

प्राणी के मरने के पश्चात् (उसकी) कर्मानुसार जो-जो गतियाँ हो सकती हैं । उन विविध गतियों को समझने के लिए अब अगला अध्याय प्रारम्भ करते हैं ।

आठवाँ अध्याय

मरने के पश्चात् प्राणी की गति

मृत्यु के उपरान्त कर्मानुसार जीव की सम्भावित गतियाँ क्या-क्या हो सकती हैं, तद्विषयक विस्तृत जानकारी प्रस्तुत अध्याय में बतलायी जा रही हैं । मृत्यु और गति के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यहाँ पहले उनका अर्थ व परिभाषा दिया जा रहा है ।

मृत्यु सर्वविदित है । प्रतिदिन मनुष्य किसी न किसी की मृत्यु देखता है । विचार की दृष्टि से मृत्यु के अर्थ पर प्रकाश डाला जा रहा है । मृत्यु के विषय में अनेक दार्शनिक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से अपने विचार दिये हैं । वैसे मृत्यु का सामान्यतः अर्थ स्थूल शरीर के निष्प्राण हो जाने से है । किसी-किसी ने मृत्यु को एक प्रकार की चिरनिद्रा कहा है, जिसमें सो जाने के बाद प्राणी फिर कभी नहीं उठता । कुछ का मानना है कि स्थूल शरीर से चेतन सत्ता का अलग हो जाना अथवा वियोग हो जाना ही मृत्यु है । अधिकांश लोगों का कहना है कि जब शरीरस्थ सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपना कार्य करना बन्द कर देती हैं, श्वास-प्रश्वास का आना-जाना बन्द हो जाता है, शरीर के समस्थ अंगों का स्वभाविक रूप से कार्य करना सदा-सदा के लिए बन्द हो जाता है और स्थूल शरीर में उत्तरोत्तर विनाश की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है, तब शरीर मृत माना जाता है । इसी घटना को मृत्यु कहते हैं । कुछ एक का कहना है कि मुत्यु स्थूल शरीर की वह अवस्था है, जिसमें शरीरस्थ समस्त

चेष्टाएँ सर्वदा के लिए बन्द हो जाती है । अरस्तू, प्लेटो आदि का कहना है कि स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीरस्थ प्राणादि के जो लक्षण हैं, उनका निकल जाना ही मृत्यु है ।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि जीवात्मा के निकल जाने से सूक्ष्म शरीरस्थ प्राणादि निष्क्रिय हो जाते हैं, जो मृत्यु का लक्षण है। इसी का नाम मृत्यु है । कहना होगा कि मृत्यु स्थूल शरीर से जीवात्मा का अपने कारण शरीर एवं सूक्ष्म शरीर के सहित निकल जाना है । इस प्रकार से मानने पर सभी के विचार समाविष्ट हो जाते हैं ।

इसी प्रकार गति के विषय में भी विद्वानों ने हिलना-डुलना, स्पन्दन करना, सरकना, लुढ़कना, घूमना (भ्रमण करना) चलना, एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचने की प्रक्रिया आदि नामों से व्यक्त किया है । गति शब्द गत्यर्थक धातु का वाचक है, जिसके प्रायः चार अर्थ प्रचलित हैं । वे इस प्रकार हैं - क्रमशः गति गमन, गति ज्ञान, गति प्राप्ति, गति मोक्ष । अर्थात् गमन करना, ज्ञान होना कोई अवस्था प्राप्त होना, मोक्ष उपलब्ध होना आदि गति शब्द के भावार्थ हैं ।

अब हमें विचार करना है कि प्राणी की मृत्यु के पश्चात् जीव किस तरह किन-किन गतियों को प्राप्त करता है ? ये गतियाँ क्या हैं, आदि ।

विद्वान् मनीषियों का कथन है कि जीव अपनी नैसर्गिक गति के नियमानुसार क्रमोन्नति करते हुए विविध निम्न शरीरों को छोड़ता जाता है और उत्तरोत्तर श्रेष्ठ शरीर को प्राप्त करता जाता है । इस प्रक्रिया में जीवात्मा के स्थूल शरीर में परिवर्तन होता है । किन्तु सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर में कोई परिवर्तन नहीं होता । जैसा कि छान्दग्योपनिषद् में वर्णन मिलता है । **'जीवापेतं वाव किलेदं**

म्रियते, न जीवो म्रियते' अर्थात् जीवात्मा के पृथक् होने पर केवल स्थूल शरीर की मृत्यु अथवा नाश होता है । जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती । ऐसा ही श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं -

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णानि नरोपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्
यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र का परित्याग करके नवीन वस्त्र धारण करता है, वैसे ही देही जीवात्मा भी अपने पुराने जीर्ण शरीर का परित्याग करके दूसरे नवीन शरीर को ग्रहण करता है । 'जीवात्मा के इस स्थूल शरीर परित्याग को मृत्यु कहा जाता है ।'

इस प्रकार यह जीवात्मा विविध योनियों के शरीरों को बदलते हुए क्रमोन्नति करके मनुष्य शरीर प्राप्त करता है । इस नैसर्गिक क्रमोन्नति के प्रवाह में जीव तमोगुण से सत्त्वगुण विशेष के प्रवाह में आकर उर्ध्वगामी स्रोतों के माध्यम से क्रमशः उन्नत अवस्थाओं को प्राप्त करता जाता है एवं चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर अन्त में मनुष्य शरीर प्राप्त करता है । इसके पश्चात् जीव की मनुष्य शरीर से किये कर्मों की दो ही दिशा में गति हो सकती है, जिनके अनेक प्रकार हैं -

प्रथम उर्ध्वगामी गति -

इसमें उत्तरोत्तर मनुष्य योनि से श्रेष्ठ योनियों अथवा दिव्य देहों की प्राप्ति होती है एवं तदनुरूप सुखों की प्राप्ति होती है ।

द्वितीय अधोगामी गति -

इसमें मनुष्य का अधःपतन होता है तथा नरकादि भोग के पश्चात् विविध निम्नयोनियों में जन्म होता है एवं तदनुरूप दुःखादि

भोगना पड़ता है। ये ही नैसर्गिक गति के रूप हैं।

चूँकि मनुष्य योनि से पूर्व मनुष्येतर योनियों में ही नैसर्गिक क्रमोन्नति देखी जाती है, क्योंकि उसमें कोशों के विकास का क्रम निर्धारित है। यथा - उद्भिज योनि में मात्र अन्नमयकोश का विकास होने के कारण ये मात्र अपना भोजन ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु प्राणमय आदि कोश के सम्यक् रूप से विकसित न होने के कारण पेड़-पौधे वृक्षादि स्वतः अन्य प्राणियों की तरह आवागमन नहीं कर सकते। अन्नमय कोश के विकसित होने के कारण से ये भोजनादि ग्रहण कर स्थूल काया में वृद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। अपने जैसे नयी पीढ़ी (सृष्टि) को जन्म दे सकते हैं। इसी प्रकार स्वेदज योनि में अन्नमय कोश के साथ प्राणमय का विकास हो जाने के कारण स्वेदज् योनि के कीटाणुओं में भोजन ग्रहण करने की क्षमता के अलावा विविध प्रकार से इधर-उधर आ जा सकने की क्षमता देखी जाती है। ये प्राणमय कोश के विकसित हो जाने के कारण ही आवागमन कर लेते हैं। अण्डज योनि के पक्षी आदि में अन्नमय, प्राणमय के अतिरिक्त मनोमय कोश के भी विकास हो जाने के कारण वे भोजन, आवागमन करने के अतिरिक्त परस्पर स्नेह-प्रेमादि मनोमय क्रियाओं को कर सकते हैं। यही कारण है जिससे, पक्षियों में अपूर्व दाम्पत्य प्रेम तथा वात्सल्य प्रेमादि देखा जाता है। इसी प्रकार जरायुज योनि में आने वाले प्राणियों में उक्त तीन कोश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय के अतिरिक्त विज्ञानमय कोश का भी विकास हो जाता है, जिस कारण वे बुद्धि-विचारादि का प्रयोग कर अनुकरणादि की क्रियाएँ कर सकते हैं। यथा - कुत्ते, घोड़े आदि पालतू पशुओं में बुद्धि वृत्ति के अनेक कार्य देखे जाते हैं। कुत्ता अपने स्वामी की सम्पत्ति के लिए अपने प्राणों की बाजी तक लगा देता है। बन्दर भी मनुष्यों का अनुकरण करके मनुष्यों सी बुद्धि

वृत्ति के कार्य करने लगता है, जैसे - पुस्तकावलोकन, अपने रक्षार्थ भय दिखाना आदि । मनुष्यों में उक्त चार कोशों यथा - अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय के अतिरिक्त आनन्दमय कोश का भी विकास हो जाने के कारण वह अपनी प्रसन्नता या खुशी हँसकर अथवा प्रसन्न मुद्रा के द्वारा व्यक्त कर सकता है । इस आनन्दमय कोश का बन्दरादि पशु योनि में विकास न होने से वे हँस नहीं सकते । बन्दर की सम्पूर्ण आकृति मनुष्यों की तरह होते हुए भी वह हँस नहीं सकता, प्रसन्नमुद्रा व्यक्त नहीं कर सकता । विविध योनि के शरीरधारी प्राणियों व जीवों में उनके कोशों के विकासानुसार, नैसर्गिक, क्रमिक विकास होने से प्रकृति द्वारा स्वाभाविक नियन्त्रण हो जाता है । इस कारण मनुष्येत्तर प्राणी प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकते । इन्द्रिय भोग की शक्ति रहने पर भी बुद्धिवृत्ति एवं अहंकार का सम्यक् विकास न होने के कारण इन जीवों को अपनी शक्तियों का ज्ञान नहीं रहता । जिससे इन प्राणियों की भोगलालसा मनुष्यों की तरह इतनी प्रबल नहीं होती । इसलिए मनुष्येतर योनि के प्राणी महाप्रकृति के इंगित नियमानुसार चलते हैं। प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकते ।

उपर्युक्त कारणों से कर्म का अभिमान नहीं रहता, परिणामस्वरूप उक्त योनि में किये गये शुभाशुभ कर्मों का लेप नहीं होता। यथा - गाय के द्वारा अमृतमय दुग्धपान कराने का पुण्य नहीं । इसी प्रकार व्याघ्र सिंह आदि हिंसक प्राणियों द्वारा ब्रह्महत्या आदि करने का कोई पाप नहीं होता । किन्तु मनुष्यों में आनन्दमय कोश का सम्यक् विकास हो जाने के कारण अहंकार तथा आनन्द अनुभव करने की शक्ति बढ़ जाती है । अतः वह आनन्द प्राप्ति के लिए अधिक लालायित हो जाता है । जिस कारण आनन्द प्राप्ति की प्रबल वासना से प्रेरित होकर अपनी समस्त बुद्धि वृत्ति का उपयोग इन्द्रिय

सुख (की प्राप्ति) के लिए करता है ।

इस प्रकार अहंकार इन्द्रियों की शक्ति एवं ज्ञान, सभी का सम्यक् विकास हो जाने के कारण मनुष्य प्रकृति के क्रमोन्नति शील प्रवाह से अलग हो जाता है एवं उन्नति की अबाधगति का क्रम रुक कर, अधोगति का अवसर उपस्थित हो जाता है । आनन्दमय कोश व बुद्धि तथा अहंकार का सम्यक् विकास हो जाने से मनुष्य में कर्म का अभिमान हो जाता है । वह मानने लगता है कि मैंने अमुक शुभ या अशुभ कर्म किया । साथ ही मनमाना स्वतन्त्र कर्म करने के कारण महाप्रकृति के नियमों का भी अतिक्रमण कर जाता है ।

इस प्रकार शुभाशुभ कृत कर्मों का कर्त्ता मानने तथा मनमाना स्वतन्त्र आचरणपूर्वक कर्म करने से कर्मानुसार पुण्य अथवा पापकर्म का लेप हो जाता है । चूँकि मनुष्येतर प्राणियों का नियन्त्रण प्रकृति द्वारा स्वभाविक हो जाता है, किन्तु मनुष्य में कर्म करने की स्वतन्त्रता को ध्यान में रखकर ही विधि निषेधमय शास्त्रों का विधान मनुष्यों के लिए किया गया है । कर्मों का अभिमान होने के कारण कृत (शुभाशुभ) कर्मों के संस्कार अन्तःकरण में संग्रह होते जाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य योनि में बुद्धि का विकास हो जाने के कारण मनुष्य प्राकृतिक कर्म संस्कार के साथ अपना अभिमान उत्पन्न कर लेता है एवं व्यक्तिगत कर्म करना प्रारम्भ कर देता है । परिणामस्वरूप क्रियमाण कर्म संचित और प्रारब्ध में विभक्त होकर भोगफल उपलब्ध कराने के लिए आवागमन का चक्र बनाये रखते हैं ।

मनुष्येतर योनियों में नैसर्गिक क्रमिक विकास की गति मनुष्य योनि में आने तक होती है । इसके पश्चात् मनुष्य शरीर से अन्य गतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं । जिनके नाम हैं - कृष्णगति, शुक्लगति आदि । वैसे तो कर्मानुसार जीव को अनेक गतियाँ प्राप्त

हो सकती हैं । यथा - प्रेतत्त्वगति, नरकगति तथा सहजगति (जिसे विदेह मुक्ति अथवा जीवन मुक्ति भी कहा जाता है) एवं ऐशगति आदि । गति के चार अर्थ बतलाये गये हैं, जिसमें प्रथम गति अर्थात् ज्ञान हो जाने के अर्थ में सहजगति प्राप्त होती है । गति गमन करने के अर्थ में ऐशगति आदि की प्राप्ति होती है । गति अवस्था अर्थ में प्रेतत्त्व एवं नरकगति आदि की प्राप्ति आती है । इसी प्रकार गति मोक्ष अर्थ में शुक्ल गति आदि की प्राप्ति मानी गयी है । उक्त चारों प्रकार से गत्यर्थक धातु की संगति बैठ जाती है । इनमें से सहजगति का मृत्यु होने से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह जीवित अवस्था में ही प्राप्त हो सकती है । इसलिए इसे जीवन्मुक्ति भी कहते हैं । मृत्यु के उपरान्त मिलने पर मात्र मोक्ष ही कहा जा सकता है ।

पूर्व में कहा जा चुका है कि मृत्यु के समय शक्तिशाली प्रबल वासनामय कर्म ही चित्ताकाश में आकर नवीन देह एवं सुख तथा सुख के साधनों इसी प्रकार दुःख तथा दुःख के कारणों को उपलब्ध कराते हैं ।

मनुष्य शरीर के परित्याग (मृत्यु) के पश्चात् जीव की साधारणतः जो उर्ध्वगतियाँ होती हैं, उनके नाम शास्त्रों में कृष्ण गति और शुक्ल गति हैं । इन्हें ही धूमयान और देवयान मार्ग भी कहा जाता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, छान्दोग्योपनिषद् व गरुड़पुराण आदि में उक्त दोनों गतियों का विस्तृत वर्णन मिलता है,। यथा - गीता में है ।

यत्रकाले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।
धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायणम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ।।

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ।।

अर्थात् जिस काल में शरीरान्त होने से अनावृत्ति एवं जिस काल में पुनरावृत्ति होती है, उसे शुक्ल एवं कृष्ण गति कहते हैं । दिवस में, शुक्लपक्ष में, उत्तरायण के छः मास में शरीरान्त होने से अग्नि अभिमानी देवता ज्योति अभिमानी देवता, दिवस के अभिमानी देवता, शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता, उत्तरायण के अधिष्ठातृ देवता आदि की सहायता से उर्ध्वगति होती है । इसको शुक्लगति कहते हैं । इस गति को प्राप्त होने पर जीव को पुनः संसार चक्र में लौटकर नहीं आना पड़ता, अपितु क्रमशः ज्ञान प्राप्त करता हुआ जीव सप्तम लोक में पहुँचकर पूर्ण ज्ञान लाभ करके ब्रह्म को जान कर मुक्त हो जाता है । इसी तरह रात्रि में, कृष्णपक्ष में एवं दक्षिणायन के छः मास में, शरीरान्त होने से धूमाभिमानी देवता, रात्र्याभिमानी देवता, कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता एवं दक्षिणायन के अधिष्ठातृ देवता आदि की सहायता से जीव उर्ध्वगति करके चन्द्रलोक पहुँचता है । इसको कृष्णगति या धूमगति भी कहते हैं । भोग समाप्ति के बाद वहाँ से उसको फिर मृत्युलोक में लौट आना पड़ता है । अनावृत्ति एवं आवृत्तिप्रद (पुनरावृत्ति वाली) ये ही दो शुक्ल और कृष्ण गतियाँ जगत में चिरकाल से प्रसिद्ध हैं । उक्त संदर्भ में छान्दोग्योपनिषद् में भी वर्णन आया है कि -

अथ य इमे ग्राम ईष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रि रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरंमभिप्राप्नुवन्ति । मासेभ्यः पितृलोकम् पितृलोकादाकाशमा-काशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति । तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते ।।

अर्थात् ईष्टपूर्तादि यज्ञ का अनुष्ठान करके उसके फल से मनुष्य

मृत्यु के अनन्तर धूमयान या पितृयान गति को प्राप्त करता है । इस गति में क्रमशः धूमाभिमानी देवता, रात्रि अभिमानी देवता, कृष्णपक्ष के देवता, मास के देवता एवं दक्षिणायन के देवता आदि इन सब देवताओं की सहायता प्राप्त करते हुए जीव संवत्सर अभिमानी देवता की सहायता से पितृलोक एवं आकाश में होकर जीव चन्द्रदेव के लोक को पहुँचता है । वहाँ का राजा चन्द्र है । वह वहाँ का शरीर प्राप्त कर वहाँ के देवताओं का भोग अथवा आनन्द की वस्तु बन जाता है । उनके साथ नाना प्रकार के आनन्द उपभोग करता है । पुण्यकर्म के क्षय होने तक इस चन्द्रलोक में सुख भोग करके अन्त में जिस मार्ग से उर्ध्वगति प्राप्त की थी, उसी मार्ग से पुनः संसार में लौट आता है । इस प्रकार शास्त्रों में जो स्वर्गादि का वर्णन है । वह इसी कृष्णगति के अन्तर्गत आता है । उक्त संदर्भ में लिखा है कि -

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्त्यलोकं विशन्ति ।।

सकाम यज्ञों के द्वारा निष्पाप होकर मनुष्य शरीरान्त के पश्चात् स्वर्गलोक जाते हैं । स्वर्ग में देव भोग्य विविध-भोगों को भोगकर, पुण्य क्षीण हो जाने पर विशाल स्वर्गलोक से मृत्युलोक में आ जाते हैं । श्रुति में भी उल्लिखित है - "**नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतोऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।** कहने का अभिप्राय यह है कि स्वर्ग में पुण्यफल भोग करने के बाद पुनः नरक लोक-मृत्युलोक अथवा इनसे भी हीन लोकों में जीव का जन्म होता है । कहना होगा कि इस प्रकार विशाल स्वर्गलोक में विविध सुख भोग भोगकर पुण्य समाप्त होने (पुण्य बल कम होने) पर वे जीव मृत्युलोक में आते हैं। यही धूमयान या कृष्णगति है । इस मार्ग के द्वारा जीव भूलोक से भूलोक के अन्य उन्नत लोकों में भुवर्लोक, स्वर्गलोक एवं इनके

अन्तर्गत आने वाले अन्य लोकों में भी जीव की गति हो सकती है। सूक्ष्म लोक समूह पाञ्चभौतिक होते हैं । इसलिए प्रत्येक लोक में किसी न किसी तत्त्व की प्रधानता रहती है । यथा चन्द्रलोक में जल तत्त्व की प्रधानता होती है । इसी प्रकार स्वर्ग लोक में तेज तत्त्व की प्रधानता एवं मृत्युलोक में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होती है । इस कारण जीव जिस लोक में जाता है, उसका शरीर उसी तत्त्व का बन जाता है । स्मरण रहे कि शुक्ल गति अर्थात् देवयान मार्ग से उर्ध्वगति प्राप्त करने की गति छठवें व सातवें में होने से वहाँ से प्रत्यावर्त्तन नहीं होता । स्थूल-सूक्ष्म लोकमय ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन व तीन लोक माने गये हैं। भूलोक अर्थात् मृत्युलोक, भुवर्लोक अर्थात् मृत्युलोक से ऊपर का लोक एवं स्वर्गलोक अर्थात् भुवर्लोक से ऊपर के दिव्य लोक । पृथ्वी लोक के नीचे पाताल लोक माना गया है । इन्हीं तीन मृत्युलोक, स्वर्गलोक एवं पाताल लोक को चौदह भुवनों के नाम से विभाजित किया गया है । मृत्युलोक जिसे भूलोक भी कहा जाता है । इससे लेकर ऊपर के (सात भुवन) सप्तलोक उर्ध्वलोक कहे गये हैं । जिनमें पहुँचने के लिए उर्ध्वगामी गति अर्थात् कृष्णगति अथवा शुक्लगति की आवश्यकता होती है । इसी तरह भूलोक (पृथ्वी लोक) से लेकर नीचे के सात लोकों में अधोगति होने से प्रेतत्त्व अथवा नरकादि गतियों की प्राप्ति होती है। महाभारत में स्वर्ग सुख-भोग के विषय में वर्णन किया गया है । स्वर्ग के सुख भोग भी बड़े विचित्र हैं । यथा - स्वर्ग में शीतल-स्निग्ध वायु चलती है । सुगन्ध से सब ओर आमोदित रहता है । वहाँ भूख प्यास का कष्ट नहीं होता, रोग एवं जरा भी नहीं सताती। देवयान निरन्तर वहाँ आते-जाते हैं । नन्दनवन व अप्सरायें तथा अनेक रमणीय देव उद्यान होते हैं । क्षुधा-पिपासा, ग्लानि आदि का वहाँ अनुभव नहीं होता । कर्णप्रिय ध्वनि सर्वदा मन मोहित करती

रहती है । माता-पिता से जन्म न होकर कर्म से तेजस् शरीर की प्राप्ति होती है । ऐश्वर्यादि के कारण हृदय में संतप्त रहते हैं । अपने गले में पड़ी माला को मुर्झाई देखकर पतन की चिन्ता से अहर्निश दुःख का अनुभव करते हैं । गरुड़ पुराण में तो बतलाया है कि - स्वर्ग सुख में असीम दुःख मिला होता है । यथा - स्वर्गारोहण के पश्चात् पतन की चिन्ता । नारकीय जीवों को स्वर्ग से ही देखकर महान् दुःख होता है कि कहीं स्वर्ग सुख भोग के बाद हमारी भी यही गति न हो । स्वर्ग में आकर कोई नवीन कर्म नहीं किया जा सकता । अतः पुण्योपभोग से पुण्य क्षीण होते हैं । अपने से अधिक पुण्यबल से अधिक उत्तम भोग-भोगने से अथवा ऐश्वर्यादि को देखकर स्वर्गवासियों को असंतोष एवं परिताप उत्पन्न होता है। पतन का अवसर सामने आते ही बुद्धिरजोकान्त होकर विमोहित सी हो जाती है । इस प्रकार चन्द्रलोक में आकर चन्द्रलोकगत जलमयशरीर तत्क्षण गल जाता है । जिससे वह वहाँ क्षणभर भी ठहर नहीं पाता । अतः जिस मार्ग से जाता है, उसी मार्ग से पुनः वापिस लौट आता है । और इस मृत्युलोक में जन्म लेने के लिए उसका स्थूल शरीर ब्रीहि, यव, औषधि आदि से उपादान प्राप्त करके पिता के शुक्र में प्रवेश करता है तथा सूक्ष्म शरीर कर्मानुसार यथा समय उसी शुक्र के माध्यम से माता के गर्भ में प्रवेश करता है । इस प्रकार कृष्णगति समाप्त होने पर पुनः कर्म करने के लिए जीव पृथ्वी लोक में जन्म लेता है ।

ऐसा माना जाता है कि जीव मृत्युलोक में आने पर स्थूल शरीर पितरों की सहायता से, सूक्ष्म शरीर देवताओं की सहायता से माता के गर्भ में प्रवेश करता है । जिन-जिन उर्ध्वलोकों से भोग के अन्त में जीव को पुनः लौटकर मृत्युलोक आना पड़ता है । उन-उन लोकों तक पहुँचने की गति को कृष्णगति के अन्तर्गत ही समझना

चाहिए।

पहले बतलाया जा चुका है कि शुक्ल गति उत्तरायण पथ से होती है । इसके द्वारा जीव उर्ध्वगामी होकर क्रमशः उन्नत-उन्नत लोकों का अतिक्रमण करते हुए ब्रह्मलोक अथवा छठवें या सातवें लोक में पहुँच जाता है । निवृत्ति परायण ऋंषि-मुनि अथवा विरक्त पुरुष जो श्रद्धा के साथ तप-उपासना आदि का अनुष्ठान करते हैं। अपने स्वधर्म का निष्ठा के साथ पालन करते हैं । अतः वे शरीर त्याग (मृत्यु) के बाद इस शुक्लगति से सूर्य पथ द्वारा ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं । उन्हें अर्चि अभिमानी देवता की सहायता से उनके लोक से दिन के अभिमानी देवता के लोक में वहाँ से उनकी सहायता से आपूर्य्यमान पक्ष के देवता के लोक में अनन्तर षण्मास देवता के लोक एवं संवत्सर देवता के लोक, आदित्य देवता के लोक आदि लोक-लोकोन्तरों के अभिमानी देवताओं के लोकों को पार करते हुए विद्युत देवता के लोक में पहुँचने पर अलौकिक पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोक में ले जाते हैं । यह ब्रह्मलोक सप्तम लोक, सत्य लोक के नाम से जाना जाता है । यहाँ आने पर जीव का पुनरावर्ततन (प्रत्यावर्तन) नहीं होता । मोक्ष हो जाता है । उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है ।

जो सगुण पञ्चदेवोपासना में से किसी एक को इष्ट मानकर, उस इष्ट की आराधना करते हैं, वे इष्ट के ध्यान से सविकल्प समाधि प्राप्त करते हैं तथा उस सगुण भाव में तन्मय होकर शरीर त्याग करते हैं । उनको अपने-अपने इष्ट देवता की कृपा से सालोक्य, सामीप्य आदि पाँच प्रकार की मुक्ति में से कोई एक मुक्ति भक्ति के अनुसार प्राप्त होती है । इन सब इष्ट देवताओं के लोक छठवें लोक के अन्तर्गत माने गये हैं । इस प्रकार अपने-अपने इष्ट के साथ एकाकार होकर सगुणोपासक भक्त अन्त में परब्रह्म में लीन हो जाते

हैं । निर्वाण पद, जिसे मोक्ष कहा जाता है, प्राप्त करते हैं । जैसा कि मुण्डक श्रुति में लिखा है -

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चतार्थाः,
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परांत काले,
परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ।।

अर्थात् देवयान गति से गमन करने वाले वेदान्त ज्ञान से तत्त्वोपलब्ध कर संन्यास योग द्वारा शुद्ध सत्त्व यतिगण इस ब्रह्मलोक में बहुत दिन वास करके महाप्रलय के समय ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

उपर्युक्त दो गतियों के अतिरिक्त मुक्ति प्रदान करने वाली और भी दो गति मानी गयी हैं, जिन्हें सहजगति एवं ऐशगति के नाम से जाना जाता है ।

१. सहजगति

ज्ञान की पूर्णता के कारण कुछ एक (कोई ज्ञानी महापुरुष) इसी देह से मुक्ति (निर्वाण पद) प्राप्त कर लेता है । सहजगति का साक्षात् सम्बन्ध ज्ञान से ही है । मृत्यु इत्यादि से इसका सम्बन्ध नहीं है । अन्वय-व्यक्तिरेक के द्वारा सत् और असत् प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन तथा जगत् और जगदात्मा के स्वरूप को ठीक-ठीक जानने वाले इस आध्यात्मिक ज्ञान से अर्थात् आत्मा-अनात्मा के सम्यक ज्ञान से चिज्जड़ग्रन्थि खुल जाती है और जीवात्मा परमात्मा एक हो जाते हैं ।

कर्म-उपासना आदि के द्वारा अन्तःकरण निर्मल हो जाता है । पश्चात् आत्मानात्मविवेक की अवधारणा द्वारा ज्ञान समुत्पन्न होता है, जिससे चिदात्मा की प्राप्ति होती है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने

दो प्रकार की निष्ठाओं का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि - पूर्वकाल से मेरे द्वारा दो प्रकार की निष्ठाएँ कही गयी हैं । ज्ञानियों के लिए ज्ञान योग एवं कर्मयोगियों के लिये कर्मयोग अर्थात् निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग यथा -

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्तामयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।
ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथामागृधः कस्यस्विद्धनम् ।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवेषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

उपर्युक्त दो प्रकार की निष्ठाओं में से प्रथम ज्ञानयोग की निष्ठा में निवृत्ति परायण साधक आते हैं एवं द्वितीय प्रकार की कर्मयोग की निष्ठा के अन्तर्गत प्रवृत्ति मार्ग के साधक आते हैं । इनमें प्रवृत्ति परायण साधक ही निष्काम कर्म योग के द्वारा कल्मष, विविध वासना आदि का नाश या क्षय करके अन्तःकरण निर्मल करके जन्म जन्मान्तर के पुण्य संचय के द्वारा ज्ञाननिष्ठा में आरूढ़ हो जाते हैं, जिससे वे आत्म-अनात्म विवेक का आश्रय ग्रहण करके अपने स्वरूप में स्थित हो जाते अथवा सहजगति को प्राप्त होते हैं।

मनोनाश-वासनाक्षय अथवा मन की चंचलता के दूर होने से अन्तःकरण निर्मल होता है । यही आत्मशुद्धि है । आत्मशुद्धि के लिए साधक निष्काम कर्मयोग करता है यथा -

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ।।

तात्पर्य यह है कि मनोनाश हो जाने से बुद्धि द्वार यह जीव अपनी आत्मा में ही आत्मा से अभिन्न ब्रह्म का दर्शन पाता है । इस अद्वैत की धारणा से अज्ञान जनित चिज्जड़ग्रन्थि खुल जाती है। जीवत्व का नाश हो जाता है । परिणामस्वरूप नित्य शुद्ध-बुद्ध,

स्वभावमुक्त चिदानन्द रूप शिव ही आत्मा है, ऐसा अपरोक्षानुभव कर जीव सहजगति को प्राप्त करता है । जिस तरह शुद्ध जल शुद्ध जल में डालने से तद्रूप हो जाता है, उसी तरह ज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषों की सहजगति में आत्मा ब्रह्म में लीन रहते हुए ब्रह्म ही हो जाती है । यथा -

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तदेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।।

इस अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष का शरीर रहने पर भी स्वरूप स्थित होने के कारण वह महापुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है एवं इस गति को सहजगति कहा जाता है ।

ऐसे तत्त्वविद् जीवन्मुक्त पुरुष देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूँघते हुए, खाते हुए, चलते हुए, सोते हुए, श्वास लेते हुए, बात करते हुए, त्याग एवं ग्रहण करते हुए तथा उन्मेष-निमेष की क्रिया करते हुए समझते हैं कि इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में वर्तती हैं । मैं कुछ नहीं करता हूँ ।

ऐसी धारणा के कारण क्रियमाण (संस्कार) कर्म फल नहीं दे पाते एवं संचित कर्म विराट् प्रकृति का आश्रय लेकर शान्त हो जाते हैं । केवल प्रारब्ध कर्म अवशेष रहते हैं । उनका भोग प्रारम्भ हो जाने के कारण यह अन्तिम शरीर प्राप्त होता है अथवा जन्म प्राप्त होता है । वासना बीज, भर्जित बीज की तरह नष्ट हो जाने के कारण मात्र कर्म शेष के वेग से उनके द्वारा उपर्युक्त प्रमाणानुसार कर्म होते हैं । तब शरीर छूटने पर, उसकी आत्मा सर्वव्याप्त परमात्मा में हमेशा-हमेशा के लिए लीन हो जाती है । इसे विदेह मुक्ति भी कहा जाता है । चूँकि जीवन रहते हुए ही सहजगति प्राप्त हो जाती है, अतः इसे जीवनमुक्ति भी कहते हैं । इस अवस्था में शरीर छूटने पर भी पूर्ववत् तदाकारता, ब्रह्माकाराकारित वृत्ति बनी रहती

है । इसलिए मरने अथवा जीवित रहने दोनों में ज्ञान की एक स्थिति बनी रहती है । अतः इस गति का मरने से (मृत्यु से) कोई सम्बन्ध नहीं है । जीवन काल में मुक्त हो जाने के कारण यह अवस्था (गति) जीवन्मुक्ति तथा जीवन काल में सहज स्वभाव से ब्रह्म में स्थित रहने से सहजगति के नाम से जानी जाती है । कुछ लोग इसी को ब्रह्म निर्वाण भी कहते हैं ।

२. ऐश गति

जिस गति से क्रमोन्नत होकर ऋषिगण, देवगणादि ब्रह्माण्ड का त्रिमूर्ति पद अथवा कोई एक शासन पद प्राप्त करते हैं और ईश्वर तुल्य ब्रह्माण्ड के किसी एक कार्य का प्रमुखता से संचालन (नियमन) करते हैं ।

ऐशगति में तपोबल के प्रभाव से दिव्य देह की प्राप्ति होने से उत्तरोत्तर उर्ध्व लोकों की प्राप्ति होती है । पितर गण, ऋषिगण और देवगणादि इस श्रेष्ठ गति को प्राप्त करते हैं । ज्ञान के लिए ऋषि, कर्म कराने के लिए देव एवं स्थूल राज्यान्तर्गत स्थूल अधिभूत कार्य हेतु पितरगण होते हैं । ऐशगति प्राप्त पदों में अष्टवसु, एकादशरुद्र, द्वादशादित्य आदि आते हैं । स्वर्गलोक के ऊपर उत्तरोत्तर उर्ध्वगति करने वाले पुनः मृत्यु लोक में नहीं आते अपितु वे प्रत्येक मन्वन्तर में इन्द्रपद, मनुपद आदि प्राप्त करते हैं । इस प्रकार देव संघ, ऋषि संघ तथा पितर संघ आदि के प्रमुख पदों को प्राप्त कर समस्त ब्रह्माण्डों में यथा योग्यपदानुसार दैवी श्रृंखला में आवद्ध होकर सहायक बनकर तत्तत् शासन व्यवस्था का नियमन करते हैं । ऐशगति को प्राप्त ऋषिगण चौदह भुवनों के एक ब्रह्माण्ड में सर्वत्र निवास कर सकते हैं ।

ऐश्वर्यादि शासन व्यवस्था नियमनादि करने में समर्थ देवता व

पितर अपने-अपने भुवनों में निवास करते हैं । उपर्युक्त कारणों से इस गति का नाम ऐशगति है । ऐशगति को प्राप्त हुए देव, ऋषि और पितर सभी कल्पान्त में एक अद्वैत ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ।

जिन मार्गों से निःश्रेयस् अभ्युदय की प्राप्ति होती है, वे ये ही कृष्ण गति, शुक्लगति तथा सहजगति एवं ऐशगति के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

इनके अतिरिक्त मृत्यु उपरान्त कर्मानुसार प्राप्त होने वाली गतियों के अन्तर्गत प्रेतत्त्व गति, नरकादि की गति अथवा चौरासी लाख योनियों में गति हो सकती है । ये अधोगतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं । मत्यर्थक धातु के गति गमन करने अर्थ में तथा गति अवस्था ग्रहण करने अर्थ में ये प्रेतगति नरकगति अथवा चौरासी लाख योनियों में कर्मफल भोगने सम्बन्धी गति के भाव समाविष्ट हो जाते हैं ।

निःश्रेयस् अभ्युदय प्रदान करने वाले एवं अधोगति-प्रेतयोनि, नरक यातनादि से बचाने वाले 'प्रायश्चित्त कर्म' के विषय में जानकारी के लिए प्रायश्चित्त कर्म विधान के नाम से अगला अध्याय प्रारम्भ करते हैं ।

नवाँ अध्याय

प्रायश्चित्त कर्म-विधान

आचार्य मनीषियों तथा शास्त्रकारों का कथन जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि विहित कर्मों के न करने व अविहित अर्थात् निषिद्ध कर्मों को करने से मनुष्य दोष का भागी होता है । साथ ही मनुष्य द्वारा किन्हीं कारणों से ज्ञात-अज्ञात में, भूल से अधर्म के कर्म हो जाते हैं । इन्हीं सभी कारणों से मनुष्य पाप का भागी होता है, अर्थात् पाप (पातक) लगता है । अतः इन दोषों अथवा पातकों की निवृत्ति होना आवश्यक है ताकि परलोक में उनका फल भोगना न पड़े । क्योंकि किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का परिणाम अवश्य ही भोगना पड़ता है । ऐसा माना जाता है कि - किये कर्म का फल तीन दिन तीन रात, तीन पक्ष, तीन मास, तीन वर्ष अथवा तीन जन्म में अवश्य ही भोंगने में आता है । इसलिए उपर्युक्त दोषों (पातकों) की निवृत्ति के लिए ऋषि-मनीषियों तथा आचार्यों ने प्रायश्चित्त कर्मों का विधान किया है । अतः कहा जा सकता है कि "जिन कर्मों के करने से, अधर्म जनित दोष अथवा पापों की निवृत्ति हो जाती है उन्हें प्रायश्चित्त कर्म कहते हैं । इनके अन्तर्गत नित्य, नैमित्तिक और काम्यकर्म आदि आते हैं । यज्ञ-अनुष्ठान, व्रतोपवास, भगवन्नामस्मरण व जपादि तथा पूर्त कर्म से किये गये दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त हो जाता है । युग (समय) सामर्थ्य व साधनादि को दृष्टिगत रखकर प्रायश्चित्त कर्मों को करने का विधान है । यथा -

देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्यात्तत्र चोक्ता न निष्कृतिः ।।

(याज्ञवल्क्यस्मृति)

ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं तीर्थभूता हि साधवः ।
तेषां वाक्योदकेनैव शुद्ध्यन्तिमलिना जनाः ।।

(पराशर स्मृति)

बलात् किये गये दुष्कर्मों का दोष नहीं माना गया है तो भी उनके विषय में मन में पश्चाताप होने पर पराशर स्मृति के वचनानुसार प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए । मनुस्मृति में लिखा है -

बलाद् दत्तं, बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।
सर्वान्बलकृतानर्थान् अकृतान् मुनिरब्रवीत् ।।

प्रायश्चित्त के विषय में एक बात और भी उल्लेखनीय है कि जिन्हें, शास्त्रविहित कर्म यथा - अपने कर्त्तव्य कर्म स्वधर्मादि या नियमित किये जाने वाले नित्यकर्म अथवा संकल्पितादि कर्मयथा - नैमित्तिक व काम्यकर्म एवं अधिभूत, अधिदैव व आध्यात्मिक कर्म न कर सकने तथा निषिद्ध कर्म अर्थात् शास्त्र अविहित कर्म यथा अधार्मिक कृत्य जो सर्वथा आचरण के योग्य नहीं है, के ज्ञात-अज्ञात या भूल से कर लेने पर, सोच-अफसोस आदि होता है उनके लिए प्रायश्चित्त कर्म करने का विधान किया गया है । इसके विपरीत जो रात-दिन दुष्कर्म अथवा कुकर्म में रत हैं, जिनके मन में धर्म-अधर्म का विचार ही नहीं उठ रहा है , उनके लिए तो यमयातना के लिए नरक का द्वार खुला है ।अतः उन्हें यमराज कृत अशुभ कर्मों का फल भोग दण्ड आदि देकर शुद्ध करेंगे ।

दोष अथवा पाप को ही पातक कहा जाता है । पातक निम्न - उच्च श्रेणी के भेद से प्रायः तीन तरह से निरूपित किये गये हैं । पातक अर्थात् सामान्य पातक तथा उपपातक और महापातक, जिन्हें विशेष पातकों की श्रेणी में रखा गया है । इन सभी प्रकार के

पातकों की निवृत्ति के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्त कर्मों का विधान है ।वे इस प्रकार हैं । यथा -

1. महापातकी से स्पर्श किया अन्न, रजस्वला से स्पर्श किया अन्न, अथवा उन्मत्त, दुःखातुर और क्रोधी व्यक्ति का अन्न नही खाना चाहिए । यदि खा लिया है तो व्रतोपवास आदि करके प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए ।

2. नित्य किये जाने वाले पाठ-पूजन, प्रातः स्मरण आदि न हो सकनेपर, दोष की निवृत्ति हेतु उपवास पूर्वक, भगवन्नाम स्मरण के साथ, नित्य नियम से अधिक संख्या में जप व पाठ आदि करने से प्रायश्चित्त हो जाता है ।

3. पश्चात्ताप पूर्वक भगवन्नाम स्मरण करना, गंगा स्नान करना, संध्यादि में किये जाने वाले जप की संख्या अधिक करना, इत्यादि कर्मों द्वारा निषिद्ध कृत कर्मों का प्रायश्चित्त हो जाता है ।

4. सत् संकल्प करके न कर सकने पर खेद अर्थात् पश्चाताप करना चाहिए तथा अनुकूल स्थिति प्राप्त कर पुनः संकल्प पूर्वक दुगने अनुपात में पूर्व संकल्पित अपूर्ण कार्य को पूरा करना चाहिए।

5. अज्ञात सामान्य दोषों का प्रशमन नित्य पूजन-पाठ, संध्या आदि तथा जप की संख्या वृद्धि करने से हो जाता है ।

6. सामान्य ज्ञात-अज्ञात पापों की निवृत्ति नित्य संध्या, तर्पण, पंचयज्ञ, बलिवैश्व अथवा दान पुण्य एवं श्रावणी आदि कर्म करने से हो जाती है अतः उक्त कर्म करते रहना चाहिए ।

7. पंचगव्य से स्नान एवं पंचगव्य पान, गंगा स्नान-पान अथवा तुलसी जल एवं शालग्राम भगवान् आदि देवमूर्तियां जिनकी प्राण प्रतिष्ठा है--के चरणोदक पान करने, सहस्रनाम व किन्हीं स्तोत्र विशेषादि के पाठ स्मरण इत्यादि करने से अनेक ज्ञात-अज्ञात, छोटे बड़े पापों की निवृत्ति हो जाती है ।

8. विविध देवी देवताओं का पूजन अनुष्ठान, यज्ञादि विशेष तीर्थ स्थल आदि में करने या तीर्थयात्रा, नर्मदा परिक्रमा-पूजनादि करने तथा दीन-दुःखी असहाय मनुष्यों एवं विविध पशु-पक्षियों, प्राणियों अथवा कन्याओं, ब्राह्मणों आदि को भोजन-वस्त्र इत्यादि के दान करने से अनेक दुष्कर्मों का शमन हो जाता है ।

9. गुरु, आचार्य, विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा स्थिति, समय, सामर्थ्य आदि को ध्यान में रखकर पापों की निवृत्तिहेतु जो विधान बतलाये जायें वे सभी प्रायश्चित्त कर्म के अन्तर्गत माने गये हैं ।

10. विशेष पातक, उपपातक एवं महापातकों की निवृत्ति हेतु विविध प्रकार के चान्द्रायण व्रत एवं विविध कृच्छ्रवत व प्राजापत्य व्रत आदि करने के लिए बतलाया गया है ।

अग्निपुराण एवं कूर्म पुराण में विविध पातक, उपपातक, महापातक आदि का विस्तृत वर्णन करके उनके प्रायश्चित्त करने का भी सम्यक् रूप से वर्णन किया गया है । पाठकों के समझने के लिए कुछ खास-खास अंशों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है ।

अ-1. अज्ञात में अभक्ष्य भक्षण करनेपर तीन दिन का व्रत करना चाहिए ।

अ-2. ज्ञात में अभक्षणीय पदार्थों को खाने पर कृच्छ्रव्रत करने पर प्रायश्चित्त हो जाता है ।

अ-3. चाण्डालादि का अन्न खाने पर दोष निवृत्ति हेतु चान्द्रायण व्रत करने का नियम है ।

अ-4. कुत्ते आदि का खाया अन्न खाने पर तप्तकृच्छ्रव्रत करें । अपवित्र जल पी लेने पर तीन दिन तक व्रत करना चाहिए ।

ब-1. ब्रह्महत्या आदि महापातक अथवा उसके समकक्ष पातक लगने पर शुद्धि के लिए भिक्षा का अन्न खाते हुए मृतक के शिर की ध्वजा धारण करके वन में कुटी बनाकर बारह वर्ष निवास करे,

अथवा धधकती हुई आग में नीचे मुख करके तीन बार गिरे, अथवा अश्वमेध या गोमेध यज्ञ करे, ऐसा विधान है । भ्रूण हत्या करने वाले को भी ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिए अथवा तप्त गोमूत्र पान करना चाहिए । क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा इनमें से किन्हीं स्त्री जाति का वध करने पर ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त का चतुर्थ, आठवाँ एवं सोलहवाँ अंश में प्रायश्चित्त क्रमशः माना गया है । अस्थिहीन प्राणियों की हत्या होने पर प्राणायाम करने से संबन्धित दोष की निवृत्ति बतलायी गयी है ।

ब-2. गोवध करने वाले अथवा समकक्ष उपपातकी को एक मास तक यवपान करके रहना चाहिए एवं गोचर्म ओढ़कर गौशाला में निवास करे अथवा दिन के चतुर्थ प्रहर में नियमित लवण हीन अन्न का भोजन करे, फिर दो मास तक इन्द्रियों को वश में रखकर, नित्य गोमूत्र से स्नान करे । गौ के पीछे पीछे चलकर उड़ती हुई धूल को अपने ऊपर धारण व पान करते हुए रहे तथा व्रतपूर्ण होने पर, एक बैल के साथ दस गायों का दान करे । यदि गाय रोकने से मरे तो चतुर्थ अंश में और यदि बांधने से मरे तो आधे अंश में एवं जोतने से मरने पर तीन चौथाई अंश में तथा मारनेसे मरने पर पूरा पूरा प्रायश्चित्त करना चाहिए । गौ का कोई अंग अपनी स्वयं की गलती व भूल से कट जाय अथवा टूट जाय तो जव का सेवन करते हुए पश्चात्ताप पूर्वक गोमती विद्या का जप करें , ऐसा प्रायश्चित्त विधान है ।

ब-3. गुरु पत्नी गमन अथवा समकक्ष अन्य किसी भी तरह के व्यभिचार जन्य पातक की निवृत्ति हेतु यह विधान है कि ऐसा महापातकी अपने अण्डकोष को काटकर अंजली में लेकर नैर्ऋत्य की ओर चलता जाय अथवा इन्द्रियों का संयम करके तीनमास पर्यन्त चान्द्रायण व्रत करे । मनुष्येतर प्राणियों के साथ मैथुन करनेवाले

के दोष निवृत्ति हेतु कृच्छ्रसान्तपन व्रत करे । स्त्री-पुरुष दोनों के लिए उक्त दोष के निवारणार्थ विधान है ।

बी-4. चोरी करने वाले अथवा समकक्ष पाप करने वाले महापातकी को सम्बंधित पातक की निवृत्ति के लिए राजा के समक्ष उपस्थित होकर अपने द्वारा कृत चौर्य कर्म अथवा समकक्ष अपराध को बतलाते हुए कहना चाहिए कि आप मुझे दण्ड दें, मैंने अमुक चोरी की है । राजा द्वारा तत्-तत् कर्मानुसार दण्डित किया जाना चाहिए तथा मात्र चौर्यकार्य के बदले मूसल द्वारा मारना चाहिए । दूसरे के घर से अल्पमूल्य वाली वस्तु चुराने पर सांतपनकृच्छ्रव्रत करना चाहिए । सामान्य वस्तुओं की चोरी करनेपर पंचगव्यपान करने का विधान है एवं खाने की वस्तुओं को चुराने पर तीन दिन भोजन का त्याग करने से प्रायश्चित्त होता है । मणि-मोती आदि कीमती रत्न, सोना, चाँदी आदि चुराने पर बारह दिवस अन्न का कण मात्र खाकर रहे । कपाश-रेशम, बैल, बकरी, घोड़ा औषधि आदि की चोरी करने पर तीन दिन दुग्ध पान करके रहे एवं पश्चात्ताप पूर्वक निश्चित करे कि अब से उक्त कार्य नहीं करेंगे ।

बी-5. मद्यपान, जुआ आदि भी महापातक के अन्तर्गत हैं अतः नशीले पदार्थों व अभक्षणीय पदार्थों का सेवन हो जाने पर पश्चात्तापपूर्वक मुण्डन आदि कराकर पंचगव्य स्नान व पान इसी तरह गंगा स्नान व पान आदि करके, वेदज्ञ ब्राह्मण की शरण ग्रहण करे ।

बी-6. उक्त चार महापातकों में से किसी भी पातक को करने वाले महापातकी के साथ अथवा संसर्ग करनेवाले को भी महापातक जन्य दोष लगता है । अतः उक्त संसर्गजन्य महापातक की निवृत्ति के लिए ऐसा प्रायश्चित्त विधान है कि - उसकी जीवित अवस्था में ही उदक क्रिया करानी चाहिए । उसे पतित मानकर उसके साथ

कोई व्यवहार नहीं करना चाहिए। प्रायश्चित्त विधान हो जाने पर उसे कुल-गोत्रानुसार खान-पान व्यवहार आदि में शामिल किया जा सकता है। उक्त पातकों के निवारण के लिए कूर्म पुराण में विस्तृत रूप से प्रायश्चित्त प्रकरण के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। सम्यक् जानकारी के लिए देखें।

जिन ब्राह्मण बालकों का समय पर यज्ञोपवीत संस्कार न हो, उन्हें तीन प्राजपत्यव्रत कराके उनका विधिवत् उपनयन संस्कार कराना चाहिए।

गुप्त पापों के प्रायश्चित्त हेतु अघमर्षण मंत्र, गायत्री जप व पुरुष सूक्त, वायुसूक्त आदि एवं स्तोत्र व सहस्रनाम आदि का पाठ किया जाना चाहिए।

जानबूझकर जातिभ्रंश कर पातक करने पर सांतपनकृच्छ्रव्रत करे एवं अनजान में उक्त पाप होने पर प्राजापत्यकृच्छ्रव्रत करें। इनके अतिरिक्त संकरीकरण, अपात्रीकरण और मलिनीकरण भी सामान्य पातकों की श्रेणी में आते हैं। इनके निवारण के लिए भी विविध प्रायश्चित बतलाये हैं।

१. संकरीकरण

प्राणियों यथा हाथी, घोड़ा, गधा मृग, बकरा, मछली आदि का वध करना संकरीकरण कहलाता है।

२. अपात्रीकरण

निन्दित मनुष्यों से धन ग्रहण, शूद्र की सेवा करना, असत्य भाषण करना आदि अपात्रीकरण कहलाता है।

३. मलिनीकरण

कभी-कीटों का वध, फल-काष्ठ व पुष्प चोरी, धैर्य त्याग आदि मलिनीकरण पातक माने गये हैं। इन सभी (संकरीकरण, अपात्रीकरण

एवं मलिनीकरण) पातकों की निवृत्ति विविध चान्द्रायण व विविध कृच्छ्रव्रत के करने से हो जाती है ।

चान्द्रायण व्रत व कृच्छ्रव्रत आदि जिन्हें प्रायश्चित्त कर्म कहा गया है उनके विविध प्रकार हैं । सम्यक् विवरण हेतु उनका उल्लेख यहाँ प्रस्तुत है ।

1. सभी कृच्छ्रों में मुण्डन, स्नान, पश्चात्ताप पूर्वक हरिस्मरण व हवन पूजन का विधान है ।

अ. कृच्छ्रव्रत-

कृच्छ्रव्रत करने वाला दिन में खड़ा रहे और रात्रि में बैठा रहे, इसे वीरासन कहा गया है । कृच्छ्रव्रतों में हैं - तप्तकृच्छ्रव्रत, शीतकृच्छ्रव्रत, प्राजापत्यकृच्छ्र, कृच्छ्रातिकृच्छ्रव्रत और सांतपन कृच्छ्रव्रत आदि । इसी तरह चान्द्रायण में मुख्य है -यति चान्द्रायण, शिशु चान्द्रायण व सुरचान्द्रायण आदि ।

१. तप्तकृच्छ्रव्रत

तीन दिन गर्मजल, तीन दिन गर्म दूध, तीन दिन गर्म घृत और तीन दिन वायु पीकर रहे, यह तप्तकृच्छ्रव्रत कहलाता है ।

२. शीतकृच्छ्रव्रत

उक्तक्रम से तीनदिवस ठंडा जल, तीन दिन ठंडा दूध, तीन दिन ठंडा घृत और तीन दिवस मात्र वायु पर रहे, यह शीतकृच्छ्रव्रत कहलाता है ।

३.कृच्छ्रातिकृच्छ्रव्रत

इक्कीस दिवस तक मात्र दूध पीकर रहे , यह कृच्छ्रातिकृच्छ्रव्रत कहलाता है ।

४. कृच्छ्रसांतपनव्रत

एक दिन पंचगव्य एवं कुशजल लेकर (भक्षण करके) रहे तथा एक दिवस उपवास करे, इसे कृच्छ्रसांतपनव्रत कहा जाता है।

५. अतिसांतपनव्रत

पंचगव्य, कुशजल एवं एक दिवस उपवास करने को तीन दिवस के क्रम से ग्रहण किया जाता है तो अति सांतपन कहलाता है।

६. पराकृच्छ्रव्रत

बारह दिवस निराहार रहकर उक्त ढंग से व्रत करने पर पराकृच्छ्रव्रत होता है।

७. प्राजापत्य व्रत

तीन दिवस प्रातःकाल, तीनदिवस सायंकाल, तीन दिवस बिना माँगे मिली वस्तु का भोजन करने और अन्त में तीन दिवस उपवास करने से प्राजापत्य व्रत होता है।

८.फलकृच्छ्र

फल खाकर रहने से फलकृच्छ्र, बेलखाकर रहने से श्रीकृच्छ्र, कमलगट्टा खाकर रहनेसे पद्माक्षकृच्छ्र, आँवले से आमलककृच्छ्र एवं पुष्प से पुष्पकृच्छ्र आदि वस्तु के नामानुसार कृच्छ्रव्रत होते हैं।

९. अन्यकृच्छ्र

एक मास अंजलि भर अन्न खाने से वायव्यकृच्छ तथा बारह दिवस तिल का भोजन करने से आग्नेय कृच्छ्रव्रत कहलाता है।

ब- चान्द्रायणव्रत

इसी प्रकार चान्द्रायण व्रतों के विषय भी कहा गया है।

१०. यतिचान्द्रायण –

एक मास तक आठ ग्रास भोजन करनेसे यति चान्द्रायण माना जाता है ।

११. शिशु चान्द्रायण –

एक मास तक, नित्यप्रातःकाल चार ग्रास और सायंकाल चार ग्रास भोजन करने से शिशुचान्द्रायण होता है ।

१२. सुरचान्द्रायण–

एक मास में किसी भी प्रकार 240 ग्रास (पिण्ड) भोजन करनेसे सुरचान्द्रायण होता है ।

१३. चान्द्रायण व्रत

ऋषि-मुनि व आचार्य का कहना है कि कृष्ण पक्ष में घटते क्रम व शुक्ल पक्ष में बढ़ते क्रम में ग्रास लेकर चान्द्रायण व्रत किया जाता है । अमावास्यां को पूर्ण निराहार रहना चाहिए । इस तरह चान्द्रायण व्रत व कृच्छ्रव्रत आदि द्वारा प्रायश्चित्त करनेका उल्लेख मिलता है । ब्रह्मकूर्च व्रत से भी विविध पापों का प्रशमन होता है । एक पक्ष तक एक अंजलि भर लाई (लाजा) मात्र का भोजन करे तथा अमावास्या एवं पूर्णिमा को उपवास करें फिर पंचगव्य पान करके हविष्यान्न का भोजन करे यह ब्रह्मकूर्च व्रत कहलाता है । कहना होगा कि ब्रह्मघाती, मद्यपायी, चोर, गुरुतल्पगामी तथा इनके साथ निवास करने वाला ये सभी महापातकी अथवा समकक्ष अपराध करने वाले पातकी या उपपातकी को दृढ़ संकल्प (निश्चय) पूर्वक तप, अनशन व्रत तीर्थ या वन में वास करना चाहिए । तब ही प्रायश्चित्त पूर्ण होने से, आत्मशुद्धि हो सकेगी ।

जिन लोगों से ज्ञात-अज्ञात में अथवा प्रमादवश किसी आवेग में

ऐसा कोई पाप होने के कारण अब मन में अफसोस होता हो तो उन्हें चाहिए कि वे पश्चात्ताप पूर्वक देश, काल, परिस्थिति व अपनी सामर्थ्य को ध्यान में रखकर प्रायश्चित्त करे एवं पुनः उस प्रकार अथवा किसी भी प्रकार के पाप कर्म न करने का निश्चय करके अपने कर्मों को आगे न बिगड़ने देवें। यही रोटी न जलने देने का अन्तर्भाव है।

गृहस्थों के यहाँ पांच स्थान हिंसा के माने गये हैं।

1. कण्डनी (ओखली, खरल)
2. पोषणी (पीसने की चक्की)
3. उपकरण (चूल्हा)
4. जलकुम्भी (जल रखने का स्थल)
5. प्रमार्जनी (झाड़ू आदि)

इन पाँचों दोषों के निवारणार्थ पंचयज्ञ बतलाये गये हैं।

1. स्वाध्याय द्वारा देवताओं की।
2. हवन द्वारा ऋषियों की
3. श्राद्ध द्वारा पितरों की
4. अन्न द्वारा अतिथि-अभ्यागत की तथा
5. बलिवैश्व द्वारा पंचभूत प्राणियों की अर्चना करने का विधान है। इनके करने से गृहस्थ के उक्त दोषों का प्रायश्चित्त हो जाता है।

पूर्व कर्मों द्वारा भी एक प्रकार से प्रायश्चित्त हो जाता है। इस संदर्भ को लेकर प्रायः लोगों का मानना है कि कुदरत या भगवान् कुछ लोगों को विशेष सामर्थ्य व शक्ति देकर, उनसे पूर्त कर्म कराने के लिए कुछ विशेष परिस्थिति उपस्थित करके प्रेरणा देते हैं। ताकि वे पूर्त कर्म के निमित्त बन सकें। यथा - अमिताभ बच्चन द्वारा ब्लड बैंक खोला गया। इस विषय में कहना होगा कि कुदरत से, इस बात की प्रेरणा हेतु अमिताभ बच्चन को वैसा रोग हुआ। तदनुकूल परिस्थिति निर्मित हुई और प्रेरित होकर उसके द्वारा ब्लड

बैंक खोला गया । इसी तरह पाकिस्तान के टेस्ट क्रिकेटर इमरान खानके विषय में भी कहा जा सकता है कि - इमरान खान की माँ को कैंसर का रोग हुआ । पाकिस्तान में उसका इलाज न हो सका। सम्यक् चिकित्सा के अभाव में उसकी माँ को मर जाना पड़ा। इस घटना से प्रेरित होकर इमरान खान ने पाकिस्तान के कराँची शहर में साठ करोड़ की लागत से एक विशाल अस्पताल (कैंसर रोग की चिकित्सा हेतु) का निर्माण कराया ।

अस्पताल निर्माण कराना आदि पूर्त कर्म के अन्तर्गत आते हैं । अतः ऐसा निश्चय किया गया है कि किन्हीं कर्मों के परिणाम स्वरूप यदि कोई कष्ट-दुःख अथवा अभाव की स्थिति का सामना किसी को कभी करना पड़ा है तो वह अब किये गये पूर्त कर्मों के फलस्वरूप उसे आगे भविष्य में अथवा अगले जन्म में नहीं भोगना पड़ेगा । अर्थात् किये गये पूर्त कर्मों के परिणामस्वरूप उसे वे रोग या तकलीफ अथवा उन अभावों का सामना आगे नहीं करना पड़ेगा क्योंकि, कहा जा चुका है कि पूर्त कर्मों के द्वारा भी एक प्रकार से प्रायश्चित्त हो जाता है । इसलिए पुनः पूर्व दुःख कष्ट अथवा अभावों को मनुष्य प्राप्त नहीं होता ।

अतः कहना होगा कि अमिताभ बच्चन द्वारा ब्लडबैंक खोलने की योजना प्रारंभ करना तथा इमरान खान द्वारा कैंसर चिकित्सा का एक बड़ा अस्पताल का निर्माण करना, उक्त दोनों ही पूर्त कर्म हैं। इनके करने से उन्हें पुण्यलाभ होगा एवं उन्हें अब आगे वैसा नहीं भोगना पड़ेगा ।

देवता की स्थापना, प्रसाद, तडाग, धर्मशाला व रोगों की चिकित्सा की दृष्टि से अस्पताल बनवाना, कोई परोपकार के कार्य करना, प्रतिमा निर्माण करना, अधिवास व प्राणप्रतिष्ठा करवाना, वृक्षारोपण आदि कार्य करना-करवाना ये सभी (कर्म) पूर्त कर्म कहे गये हैं ।

इनके करने से पुण्य होते हैं। पूर्तकर्म के अन्तर्गत सभी आध्यात्मिक कर्म एवं अधिदैव व अधिभूत कर्म आते हैं। ये सभी पुण्यप्रद कर्म होने के कारण, इनसे पापों अथवा दोषों का परिमार्जन हो जाता है। अतः पूर्त कर्मों को अपनी योग्यता, सामर्थ्य व शक्ति के अनुसार अवश्य करना चाहिए।

पूर्त-कर्म के दो प्रकार बहिर्वेदि और अन्तर्वेदि हैं। देवताओं की स्थापना और पूजा आदि बहिर्वेदि के अन्तर्गत है एवं जो कर्म ज्ञान साध्य होते हैं उन्हें अन्तर्वेदि कहा है। निष्कामभाव से किये कर्म, हरिस्मरण एवं अन्य कोई श्रेष्ठ कर्म जो ज्ञान साध्य हैं वे सभी अन्तर्वेदि कर्म के अन्तर्गत आते हैं। बहिर्वेदि कर्म भी दो प्रकार के हैं -

1. पोखर, बावली, तडाग कूप व प्याऊ आदि बनवाना।

2. सेवा द्वारा ब्राह्मणों व गुरुओं को प्रसन्न अथवा संतुष्ट करना। वैसे तो, बहिर्वेदि कर्म सत्तासी प्रकार के हैं। उनमें से तीन प्रमुख है।

1. देवता की स्थापना, प्रसाद और तडागादि का निर्माण करना। देवता की प्रतिष्ठा आदि तीन कर्म प्रधान रूप से होते हैं। अ. पूजन, ब. हवन, स. दान आदि। जीर्णोद्धार के कार्य भी नवनिर्माण की तरह पुण्यप्रद होते हैं।

यह बात भी आवश्यक रूप से कही गयी है कि - 1. जल अथवा जलाशय एवं मंदिर के ऊपर घर, निवास स्थानादि नहीं बनाना चाहिए।

2. प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित शिव लिंग या देव मूर्ति नहीं उखाड़ना चाहिए। इससे ब्रह्महत्या का दोष लगता है।

3. इस तरह अश्वत्थ या वट वृक्ष, श्री (बेल) वृक्षका छेदन करने पर मनुष्य ब्रह्मघाती होता है।

4. इमली का पेड़ धर्म दूषक माना गया है। तुलसी का पौधा

अथवा देवमंदिर अपने घर से दक्षिण दिशा में नहीं रखना चाहिए।

जिनकी संतान नहीं है उसके लौकिक अथवा पारलौकिक कर्म वृक्षों के माध्यम से भी हो जाते हैं । इसलिए वृक्षारोपण के कार्य भी पूर्त-कर्म के रूप में किये जाना चाहिए । पृथक्-पृथक् प्रकार के वृक्षारोपण से, पृथक्-पृथक् इच्छाओं की पूर्ति होती है ।

1. अश्वत्थ वृक्षारोपण से पुत्र प्राप्ति

2. अशोक वृक्ष के लगाने से शोक नहीं होता तथा स्त्री की प्राप्ति होती है ।

3. विल्ववृक्ष से दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है ।

4. इसी तरह जामुन के वृक्ष लगाने से धन और तेन्दू का वृक्ष कुल वृद्धि करता है।

5. अनार से स्त्री सुख की प्राप्ति होती है ।

6. वकुल पापनाशक, तिनिश बल-बुद्धि प्रदान करने वाला तथा सुपारी सिद्धिप्रद माना गया है ।

7. महुआ-अर्जुन अन्न देने वाला, धात्री स्वर्ग देने वाला, कदम्ब का पेड़ विपुल लक्ष्मी देने वाला, शमी का वृक्ष रोगनाश करने वाला, केसर का पौधा शत्रुनाश करने वाला एवं कटहल का पेड़ बुद्धि को बढ़ाने वाला माना गया है ।

इसी तरह विविध वृक्षों का वृक्षारोपण करने वाला तीन जन्म के पापों से मुक्त हो जाता है । अतः वृक्षारोपण अवश्य करना चाहिए ।

वृक्षारोपण का कार्य पूर्त कर्म है । गरुड़ पुराणादि में कहा गया है कि - जो मनुष्य इस लोक में परमार्थ की दृष्टि से पेड़-पौधे छायादार वृक्षों को लगाता है, प्याऊ लगवाता है, धर्मशाला अथवा अस्पताल बनवाता है, किसी की सेवा करता है अथवा कोई वस्तु दान करता है तो वे सभी आवश्यकता पड़ने पर उसे इस लोक या

परलोक में किसी न किसी रूप में उपलब्ध होकर, उसकी सेवा सहायता में आती है । इसी तरह देव मंदिर बनवाना व अधिवास पूर्वक विधिवत् प्राण प्रतिष्ठा कराना, अन्न क्षेत्र, सदाव्रत आदि सभी परोपकार अथवा परमार्थ के कार्य करने वाला विविध पुण्यों को प्राप्त करता है ।

अभिप्राय यह है कि पूर्त कर्म पुण्य प्रदान करने वाले हैं । पुण्य से सुख मिलता है पुण्य से ही अनुकूल स्थिति प्राप्त होती है मनचाही (इच्छित) वस्तु की प्राप्ति होती है । पूर्त कर्मों को करने से प्रायश्चित्त सा भी हो जाता है ।फलस्वरूप आगे (भविष्य में) लोक-परलोक में तद्विषयक लाभ उपलब्ध होता है । किन्हीं दोषों अथवा पापों के कारण जो कुछ भी प्रतिकूल (अवसर) अथवा कष्ट दायक अवसर प्राप्त हुआ है ; वह अब इन पूर्त-कर्मों को करने के कारण प्राप्त नहीं होगा ; अपितु अच्छा अवसर व अनुकूल तथा सुखद समय पर प्राप्त होगा ।

इस प्रकार प्रायश्चित्त प्रकरण एवं पूर्त-कर्म निरूपण करके अब हम पाठकों के समक्ष लोक-परलोक के विषय में सम्यक् जानकारी प्रस्तुत करना चाहेंगे ताकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डान्तर्गत सृष्टि का ज्ञान हो सके तथा संशय आदि का कोई विषय न रहे । प्रायः लोगों को सूक्ष्म योनियों रहने वाले भूत-प्रेत अथवा नरकादि के विषय में, प्रत्यक्ष न दिखने से संशय होता है । अतः तद्विषयक सम्यक् निरूपण हेतु अगला अध्याय लोक-परलोक के नाम से प्रारम्भ करते हैं ।

दसवाँ अध्याय

लोक-परलोक

लोक का तात्पर्य इहलोक अर्थात् इस लोक से है । जहाँ वर्तमान में हम सभी भूत प्राणी निवास कर रहे हैं ; एवं परलोक का अभिप्राय इहलोक से पृथक् अन्य लोकों से है जहाँ मृत्यु के पश्चात् स्थूल शरीर से निकलने के बाद जीवात्मा निवास करता है । लोक एवं लोकान्तर लोक या परलोक ये सभी ब्रह्माण्ड के भीतर आते हैं।

धर्मग्रन्थों में ऐसा वर्णन मिलता है कि - एक परमब्रह्म परमात्मा ईश्वर के रोम-रोम में असंख्य ब्रह्माण्ड लटकते रहते हैं । उन असंख्य ब्रह्माण्डों में से एक ब्रह्माण्ड की संरचना पर विचार कर लेने पर सम्यक् रूप से लोक-लोकान्तरों के निर्माण का ज्ञान हो जाता है । वेद शास्त्रों का कथन है कि एक निर्गुण निर्विशेष्य अद्वैत परम ब्रह्म परमात्मा ही अपनी माया का आश्रय लेकर सगुण साकार ईश्वर होकर त्रिगुणमयी माया-महाप्रकृति के द्वारा अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डों का निर्माण कर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक कहलाते हैं । ये अनन्त ब्रह्माण्ड निर्मित होकर एक विराट् ईश्वर के रोम-रोम में लटकते रहते हैं । यथा - तुलसीकृत रामायण में वर्णन है -

''रोम-रोम प्रति लागहि, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ।'' एवं

''ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया, रोम-रोम प्रति वेद कहे ।''

महानारायणोपनिषद् में लिखा है कि इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर अनन्त.कोटि ब्रह्माण्ड भासमान हो रहे हैं । यथा उद्धृत है -

''अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि

ब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति ।" (महानारायणोपनिषद्)

इसी प्रकार लिंग पुराण में भी वर्णन मिलता है यथा -

कोटि-कोट्ययुतानीशं चाण्डानि कथितानि वै;
तत्र-तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्मणो हरयो भवाः ।
ह्यसंख्याताश्च रुद्राख्या ह्यसंख्याताः पितामहाः,
हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः ।।

अर्थात् करोड़ों ब्रह्माण्ड कहे गये हैं उनमें असंख्य-असंख्य ब्रह्मा, विष्णु और शंकर होकर एक ही ईश्वर निवास करते हैं । अभिप्राय यह है कि एक विराट् ईश्वर के रोम-रोम में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं जिनमें असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, शंकर निवास करते हैं । इन सभी ब्रह्माण्डों में छोटे-बड़े अनेक विध लोक-परलोक निर्मित रहते हैं । एक ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थूल शरीर (पिण्ड) की तरह मानी गयी है।

महासागर में जिस तरह असंख्य फेन बुदबुदे बनते व उसी में विलीन होते रहते हैं इसी तरह एक महेश्वर के महासागर रूप शरीर में असंख्य ब्रह्माण्ड (बुदबुदे की तरह) बनते व नष्ट होते रहते हैं । इस प्रकार सृष्टि में ब्रह्माण्ड निर्मित होते हैं ।

एक ही सगुण-साकार विराट् ईश्वर पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्डों के निर्माण हेतु तीन गुणों के आधार पर महाप्रकृति के तीन-तीन गुणों का आश्रय लेकर तीन रूपों में कार्य करने के कारण तीन नाम, रूप वाला होकर एक ब्रह्माण्ड के भीतर निवास करते हुए उस ब्रह्माण्ड का संचालन करता है । इस प्रकार एक ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मलोक में निवास करते हुए एक ब्रह्माण्ड में सृष्टि का कार्य ब्रह्मा जी करते हैं । इसी तरह उस ब्रह्माण्ड के विष्णुलोक अर्थात् बैकुण्ठ लोक में विष्णु के रूप में रहकर उस ब्रह्माण्ड के जीवों का पालन व संरक्षण का कार्य तथा शिव शंकर, महेश के रूप में शिवलोक अर्थात् कैलास धाम आदि में रहकर, कल्पान्तमें सृष्टिसंहार का कार्य एवं मरनेवाले

प्राणियों के कल्याण के लिए काशी में रहकर; मोक्ष हेतु ज्ञानोपदेश तारक मन्त्रादि देते रहते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सृष्टि, पालन और संहार के कार्य के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश अर्थात् शंकर जी होते हैं । ये भी अपने-अपने लोक के ईश्वर कहलाते हैं । जैसा कि ऊपर श्लोकों में वर्णन है, तदनुसार ऐसे अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डों में अनन्त-अनन्त ब्रह्मा, विष्णु और महेश ईश्वर के रूप में अपने-अपने लोकों में रहकर नियमन व्यवस्था करते हैं ।

इसी प्रकार से लोक परलोक के अन्तर्गत समस्त अधिदैव ज़गत् की नियमन-व्यवस्था को समझ लेना चाहिए ।

अधिकांश पुराणों एवं धर्मग्रन्थों में ब्रह्माण्ड की सृष्टि का वर्णन किया गया है । उनमें बतलाया गया है कि एक ब्रह्माण्ड में प्रमुख रूप से तीन लोक, चौदह भुवन होते है । कहीं कहीं लोक एवं भुवन शब्द को एक दूसरे के पर्याय अर्थ में लिया गया है । इन भुवनों के अन्तर्गत अनेक छोटे-बड़े लोक आते हैं । जिस प्रकार किसी देश के भीतर अनेक प्रान्तीय देश आदि आते हैं । यथा जिस किसी देश के भीतर रहकर बात की जाय तो उसे यह देश कहा अथवा माना जाता है, एवं उससे पृथक् देश को देशान्तर देश, अन्तर्देश अथवा परदेश कहा अथवा माना जाता है । इसी प्रकार जिस लोक में हम रहते हैं या जिस लोक में रहकर हम अभी बातें कर रहे हैं । वह यहलोक है उसे ही इहलोक कहा गया है । इससे पृथक् जितने भी छोटे-बड़े लोक हैं वे सभी परलोक माने गए हैं । छोटे-बड़े लोकों के विषय में भी ऐसा समझ लेना चाहिए कि जैसे एक बड़े देश के भीतर कई छोटे-बड़े देश, यथा विविध राज्य अथवा प्रान्त आदि समाहित (सम्मिलित) हो जाते हैं उसी तरह एक बड़े लोक के भीतर छोटे-बड़े अनेक लोक व लोकान्तर लोक आदि समाहित हो जाते हैं।

इन्हें भी परलोक आदि कहा गया है ।

इस प्रकार इन्द्रलोक, यमलोक, वरुणलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, वैकुण्ठ लोक, शिवलोक, देवी का मणिद्वीप भुवन, साकेतधाम एवं गोलोक तथा प्रेतलोक, पितरलोक और नरक लोक आदि समस्त लोकान्तर लोकों को परलोक माना गया है ।

प्रमुख रूप से एक ब्रह्माण्ड में तीन लोक ही प्रसिद्ध हैं । यथा- स्वर्गलोक, मृत्युलोक, और पाताल लोक । इनमें मृत्युलोक, पृथ्वी लोक को ही कहा जाता है । इसी को भूःलोक के नाम से भी जाना जाता है । इसे ही ऊपर इहलोक आदि के नाम से सम्बोधित किया गया है ।लोक का अभिप्राय एक ब्राह्माण्ड के इसी भूःलोक से है । परलोकान्र्तगत माना गया है स्वर्गलोक ऊर्ध्व दिशा में स्थित है । इसी तरह पाताल लोक को अधोदिशा में होने से, अधःलोकान्तर्गत माना गया है ।

भूलोक के ऊपर, सप्त ऊर्ध्व लोकों भूःलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनःलोक, तपःलोक और सत्यलोक हैं । इसी प्रकार भूःलोक के नीचे, सप्त अधः लोकों में अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल है । ये सप्त अधःलोक पाताल लोक के अन्तर्गत माने जाते हैं । उपर्युक्त चौदह लोकों को ही चौदह भुवन कहा जाता है । प्रथम तीन उर्द्धव लोकों तक जीव की गति होने पर, उसे स्वर्गगमन माना जाता है एवं पुण्यक्षीण होने पर जीव को विशाल स्वर्ग लोक से नीचे आकर पुनः भूःलोक आदि में जन्म लेना पड़ता है । यथा -

ते तं भुत्तवा स्वर्गलोकं विशालं ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।।

किन्तु स्वर्गलोक से ऊपर के लोकों में पहुँचने पर जीव की उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगति होती रहती है एवं अन्त में सत्यलोक, जिसे

ब्रह्मलोक भी कहा जाता है; वहाँ पहुँचने पर जीव का मोक्ष हो जाता है।

भविष्य पुराण में लिखा है कि - भूःलोक के ऊपर, अन्तरिक्ष में ; क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिशाएँ, लोकालोक, द्वीप, नदियाँ, सागर, तीर्थ, देवस्थान, मेघगर्जना, इन्द्रधनुष, उल्कापातों, केतुओं और विद्युतमाला आदि का क्षेत्र है। भुवर्लोक और स्वर्गलोक तो अन्तरिक्ष से ऊपर हैं। इस स्वर्ग लोक में देवराज इन्द्र की राजधानी है। यहाँ विविध देवता निवास करते हैं। इसके अन्तर्गत विविध नियामक व्यवस्था के अधीश्वरों अर्थात् देवताओं के लोक हैं। यथा-वरुण लोक, अग्निलोक, वायुलोक, कुबेरलोक, अश्विनीकुमार, अष्टवसु ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य आदि के अपने-अपने लोक हैं। वे इन लोकों में रहते हुए, अन्य लोक-लोकान्तरों में भ्रमण कर सकते हैं, तथा नियमन व्यवस्था में सहयोग भी कर सकते हैं। नियामक व्यवस्था के अन्तर्गत किसी एक कार्य व्यवस्था का स्वतंत्र संचालन करने की योग्यता के कारण उस विभाग के ईश्वर भी कहलाते हैं।

ध्रुवलोक से एक करोड़ योजन ऊपर महर्लोक है इसमें ब्राह्मण क्षेत्र ऋषिगण निवास करते हैं। उससे दो करोड़ योजन ऊपर जन लोक है जहाँ ब्रह्माकुमार सनकादिक ऋषि निवास करते हैं। उससे तीन करोड़ योजन ऊपर तप लोक है इसमें तापत्रय रहित देवगण निवास करते हैं। उससे छः करोड़ योजन ऊपर सत्यलोक है यहाँ सप्त ऋषिगण निवास करते हैं। सत्यलोकान्तर्गत ब्रह्मलोक है जहाँ विश्व रचयिता प्रजापति ब्रह्मा निवास करते हैं। इसी सत्यलोक के अन्तर्गत ब्रह्मलोक में सभी इष्ट देवताओं के लोक हैं। यथा - विष्णुलोक अर्थात् वैकुण्ठ लोक, शिवलोक, साकेतलोक गोलोक, मणिद्वीप आदि। जहाँ प्राणी (जीवात्मा) अपने इष्ट देवता के साथ, पाँच प्रकार की मुक्ति में से कोई मुक्ति को प्राप्त कर रहता है एवं

कल्पान्त में; अपने इष्ट के साथ एकाकार होकर ब्रह्मा जी के साथ एक अद्वैत परम ब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है । इस सत्यलोक में आने पर जीव की अधोगति नहीं होती है अपितु मोक्ष हो जाता है । इसलिए गीता में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि -

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम् ।।" अर्थात् जहाँ पहुँचने पर पुनः पुनरावर्तन नहीं होता वह मेरा परमधाम है । अभिप्राय यह है कि सत्यलोकान्तर्गत ब्रह्मलोक में सभी इष्ट देवता अपने उपासक भक्तों को अपने में एकाकार करके परम ब्रह्म परमात्मा में (कल्पान्त में) ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार ब्रह्मलीन होकर मुक्त हो जाते हैं ।

प्रमुख तीन लोकों में से स्वर्गलोक ऊर्ध्व लोक के अन्तर्गत होने के कारण से कहीं कहीं मिश्रितभाव को लेकर अन्य ऊर्ध्वलोकों को स्वर्गलोक की संज्ञा दे दी गयी है । ऐसा मानना ही उचित है । भूःलोक के भी अनेक अन्तर्विभाग किये गये हैं । उनमें से प्रधान चार क्रमशः इस प्रकार हैं । 1. मृत्युलोक, 2. प्रेतलोक, 3. पितरलोक, 4. नरकलोक ।

१. मृत्युलोक

पृथ्वीलोक ही है । यहाँ पृथ्वी तत्व की प्रधानता है । इस लोक में रहने वाले सभी शरीरधारी जन्म लेते (पैदा होते) हैं । कुछ जीवन की अवधिपूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त होते हैं । मृत्युलोक में मनुष्य योनि को प्राप्त करने का बहुत बड़ा महत्व बतलाया गया है । क्योंकि मनुष्य शरीर से जीव पुरुषार्थ कर सकता है एवं यह मनुष्य शरीर केवल मृत्युलोक में ही उत्पन्न होता है । अतः इस मनुष्य शरीर को प्राप्त करने के लिए मृत्युलोक में आना ही पड़ेगा । इस मृत्युलोक को इहलोक की संज्ञा दी गयी है ।

२. प्रेतलोक

प्रेतलोक भूःलोकान्तर्गत पृथ्वीलोक के आस-पास का वायु वाला क्षेत्र है। इसमें प्रेतयोनि को प्राप्त जीव निवास करते हैं। कर्म एवं स्वभाव अथवा वासनानुसार मनुष्य के मरने के बाद जीव को इस योनि में यहाँ आना पड़ता है। वायु तत्त्व की प्रधानता होने से सूक्ष्म शरीर वायु भक्षण करते हुए वायु में ही विचरण करता है। वासना की तीव्रता के कारण नजदीक के क्षेत्रों में सर्वत्र प्रवेश कर सकता है। ऐसा माना जाता है कि अधिकांशतः सभी को कुछ काल प्रेतयोनि प्राप्त कर प्रेतलोक में वास करना पड़ता है। विरले कुछ सद्पुरुष होते हैं जो इससे बच पाते हैं। इसी कारण से मृत व्यक्ति के निमित्त प्रेत श्राद्ध की जाती है। श्राद्ध के द्वारा प्रेतत्व से मुक्ति होती है। पृथ्वीलोक से पृथक् होने के कारण प्रेतलोक को अधःपरलोक की संज्ञा दी गयी है।

३. पितरलोक

भूःलोककान्तर्गत पृथ्वी के नीचे दक्षिण दिशा में अग्निष्व नामक पितर लोक है जहाँ पितृगण निवास करते हैं एवं अपने वंशधरों से मंगल कामना करते हैं। जीव जब यहाँ आता है तब पितरों को प्राप्त करता है। तर्पण व श्राद्ध करते रहने से जीव यहाँ से भी शीघ्र मुक्त हो जाता है। यह पितरलोक राजा यम के अधीनस्थ होता है। पितर भी तीन तरह के माने गये हैं। देव पितर, ऋषि पितर एवं पितृपितर। उक्त तीन में से पितृपितर तर्पण व श्राद्ध से मुक्त होते हैं। पितरलोक अन्य लोकों की तरह पृथक् होने से परलोक ही माना गया है।

४. नरकलोक

नर्क यातना के लिए, नरकलोक होता है। यहाँ के भी राजा

यमराज हैं । वे अपनी राजधानी यमपुरी में रहते हुए सम्पूर्ण यमलोक पितरलोक आदि का नियमन करते हैं । नरक लोक में आये पापी जीवों को सूक्ष्म शरीर जिसे यातना देह भी कहा जाता है की प्राप्ति होती है । उसी के माध्यम से जीव को विविध यातनामय भोग भोगने में आते हैं । पृथ्वी लोक से पृथक् होने से तथा यहाँ का सूक्ष्म शरीर होने से अन्य लोकों की तरह पृथक् लोक के रूप में यह भी अधः परलोक माना गया है ।

अशुभ कर्मों के अशुभ परिणाम भोगने के लिए उक्त अधःलोकों में मृत्यु के पश्चात् जीव का इहलोक से पतन (गमन) इतरलोक में होता है अतः परलोक कहे गये हैं ।

इहलोक से परलोक में गति करने के लिए जीव को अतिवाहिक-सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है । जीव को मनुष्य शरीर से किये गये कर्मानुसार जिस लोक में जाना होता है वहाँ के दूत आकर जीव को अपने साथ उस लोक में ले जाते हैं । यथा - यमलोक के लिए यमदूत, वैकुण्ठलोक के विष्णु दूत एवं विविध देवलोकों के लिए तद्तद्देव दूत आदि आकर जीव को ले जाते हैं । इस कार्य में जीव को विविध अभिमानी देवता तद् तद् लोकों तक पहुँचाने में सहायता करते हैं । जीव जिस लोक में पहुँचता है वहाँ जिस तत्व की प्रधानता होती है उसका शरीर उसी तत्व का निर्मित हो जाता है । यथा - चन्द्रलोक में जल तत्व की प्रधानता होने से वहाँ जल तत्वमय शरीर निर्मित हो जाता है । इसी प्रकार सूर्यलोकादि में तेज तत्व की प्रधानता के कारण वहाँ तेज तत्व वाला शरीर निर्मित हो जाता है ।

ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना एक समान मानी गयी है । मनुष्य के स्थूल शरीर को पिण्ड कहते हैं । नाभि से ऊपर ऊर्ध्व और नाभि से नीचे अधः एवं नाभि को भूःलोकवत् मध्य माना जाता है।

मानव शरीर यदि ब्रह्माण्ड का लघुरूप मान लिया जाय तो उसमें अन्तर्निहित चेतन, ब्रह्म ही है ।

जिस प्रकार पीपल अथवा वट वृक्ष में अनेक फल होते हैं, एवं फलों में अनेक बीज होते हैं तथा उन बीजों के भीतर सूक्ष्म रूप में तद् तद् वृक्ष ही होते हैं । उसी तरह अनन्त ब्रह्माण्डों को रोम-रोम में धारण करने वाला विराट् ईश्वर का कारण एक अद्वैत परम ब्रह्म परमात्मा ही प्रत्येक ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तरों में स्थित सभी जीवधारियों के शरीर में कारण रूप से विद्यमान होते हैं । उसी चेतन सत्ता के आश्रित जीव अहम् वृत्ति को आरोपित करके अपने-आपको कर्त्ता-भोक्ता मान लेता है । जिसके कारण चौरासी लाख योनियों में भटकते रहता है । इन चौरासी लाख योनियों एवं अन्य लोकों की योनियों के विषय में सम्यक् विचार करने पर स्पष्ट होता है कि लोक-परलोक है । इसके अतिरिक्तलोक में भी देखा जाता है कि मनुष्य सुखी और दुःखी दो तरह के होते हैं । सुखी मनुष्य विचार करता है कि क्या मेरा जीवन हमेशा इसी तरह सुख-शान्ति से बीतेगा? या किसी समय अपने प्रियजनों व सुख के साधनों को छोड़कर कोई अज्ञात अपरिचित स्थान पर जाना पड़ेगा ? इसी प्रकार दुःखी मनुष्य भी विचार करता है कि न जाने इसके पहले कौन सा पाप किया था ? और अब शरीरान्त के बाद क्या होना है ? आदि बातों का विचार आस्तिक मनुष्य के मन में उठता है तथा जो नास्तिक हैं वे इन विषयों पर विचार ही नहीं करते । अपितु वे सोचते हैं कि जो दिख रहा है, वह बस इतना ही है।आगे मरने के बाद किसने देखा है । किन्तु अभिनिवेश आदि के आधार पर विचार किया जा सकता है, कि - मृत्यु और जन्म के बीच के अन्तराल में जीव कहाँ, किस रूप में रहता है ? लोक-लोकान्तर में पायी जाने वाली योनियों के आधार पर भी निश्चय किया जा सकता है।

इसी तरह आप्त वाक्यों से भी समझा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड हैं एवं ब्रह्माण्डान्तर्गत अनेक लोक व परलोक आदि हैं । उन लोक-परलोक के अन्तर्गत विविध योनियाँ हैं जिनमें रहकर जीव अपने कर्मानुसार दुःख-सुख भोगते रहता है ।

भगवान आद्यशङ्कराचार्य जी लोक-परलोक के विषय में संकेत देते हुए उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं यथा-

''**नाहं न त्वं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियतेशोकः** ।।'' अर्थात् यदि लोक-परलोक नहीं है तब आपका शरीर व उससे सम्बन्धित लोग (जन) वस्तु या पदार्थ भी नहीं हैं फिर उनका वियोग होने पर, शोक नहीं करना चाहिए । यदि शोक करते हो तो फिर यह सब लोक-परलोक व विविध योनियाँ हैं, ऐसा मानना चाहिए । कठोपनिषद में धर्मराज स्वतः कहते हैं कि जो परलोक नहीं मानते वे बारम्बार मेरे पास आते हैं । यथा -

अयं लोकोनास्ति पर इति मानी पुनर्पुनर्वशमापद्यते मे ।

कहना होगा - सभी लोक-परलोक व लोकान्तर लोक आदि हैं; एवं उनमें रहने वाली सूक्ष्म आत्माएँ भी हैं । वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अथवा अदृश्य होने पर भी उनका व्यावहारिक अस्तित्व मानना उचित है ।

योग जन्य अलौकिक प्रज्ञा द्वारा भी परलोक के विषय में जाना जा सकता है । योगदर्शन में भगवान् पतञ्जलि कहते है कि -

''**संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्** '' भावार्थ यह है कि योग के द्वारा पूर्व जन्म की बातें जानी जा सकती हैं । दुर्गा सप्तशती में लिखा है कि - ''**चक्षुष्वन्तो हि पश्यन्ति नेतरे ...** ''अर्थात् जिनके पास चक्षु अथवा प्रज्ञा है , वे देख समझ सकते हैं । दूसरे अज्ञानी नहीं समझ सकते । महाभारत में वर्णन किया है कि -

यथान्धकरे खद्योतं लीयमानं इतस्ततः,
चक्षुमन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञान चक्षुषः ।

पश्यन्त्येवं विधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा,
च्यवन्तं जायमानं च योनिं चानुप्रवेशितम् ।।

अर्थात् जिस प्रकार आँख वाले व्यक्ति अन्धेरी रात्रि में जुगनू को इधर-उधर उड़ते व वृक्षों पर बैठते देखते हैं । उसी प्रकार ज्ञान दृष्टि सम्पन्न सिद्ध महापुरुषगण दिव्य चक्षु के द्वारा जीवों को पहला शरीर त्यागते और दूसरा शरीर उत्पन्न होते एवं दूसरी योनियों में प्रवेश करते हुए देखते हैं ।

उपर्युक्त लोक-परलोक के सम्यक् विवेचन से पाठकों को यह समझ लेना चाहिए कि - जिस प्रकार देश है, तो परदेश भी है । उसी प्रकार लोक है तो लोक से पृथक् परलोक भी है । इसी तरह तद्विषयक वर्णनानुसार योनियाँ व यातना, दुःख-सुख आदि भी है इसलिए आस्था और विश्वास के साथ अखिल सृष्टि के नियामक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए एवं अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हुए धर्माचरण के लिए अग्रसर होना चाहिए ।

ग्यारहवाँ अध्याय

कल्याण-पथ

हमारे सनातन धर्म में कल्याण का मार्ग विविध तरह से बतलाया गया है । उसका सम्यक् वर्णन विविध धर्मशास्त्रों एवं अनेक श्रुति-स्मृतियों में मिलता है । अतः कल्याण पथ के लिये ये शास्त्र व श्रुतिस्मृतियाँ प्रसिद्ध हैं । कहीं-कहीं श्रुति-स्मृतियों में विरोध पाया जाता है । ऐसी स्थिति में श्रुति ही प्रमाण है क्योंकि श्रुति वेद को कहते हैं । वेद अपौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण है, उनके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती । इसलिए वेदों में प्रतिपादित धर्म का तत्त्व ही कल्याण पथ है ।

इसके अतिरिक्त ऋषि-मुनि व मनीषियों ने धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह से जानकर धर्म के विषय में निर्णयात्मक उपदेश किया है । यथा-

तर्कोऽप्रतिष्ठाश्रुतयो विभिन्नाः,
नेकोऋषिर्यस्य मतः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्था ।।

अर्थात् तर्क अप्रतिष्ठित है एवं श्रुतियाँ भी विभिन्न है तथा कोई एक ऋषि नहीं, मात्र जिसका मत प्रमाण हो । अभिप्राय यह है कि तर्क के द्वारा अपना मत प्रस्तुत किया जा सकता है एवं एक तर्क पूर्ण प्रमाण से, दूसरे तर्क पूर्ण प्रमाण का खण्डन मण्डन आदि किया जा सकता है । अतः तर्क अप्रतिष्ठित है । इसी तरह श्रुतियों में भी

विविध तरह से मत प्रस्तुत किये गये हैं । एक कोई ऋषि नहीं है; जिसका ही मत, मात्र प्रमाण हो । ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है, इसलिए पूर्वज महात्माजनों ने जिस मार्ग को प्राप्त किया है, वही सच्चा मार्ग है । यहाँ **निहितं गुहायां** एवं **महाजनो येन गतः स पन्थाः** का तात्पर्य है कि - पूर्वज महात्माजनों ने एकान्त कन्दराओं आदि में एक आसन से बैठकर समाधि लगाकर अन्तःकरण की निर्मल एवं शान्त अवस्था में अपनी हृदयगुहा में ही संनिहित धर्म का तत्त्व, जो वेद का प्रतिपाद्य है; को प्राप्त किया है, उपलब्ध किया है आदि । इसलिए अध्यात्मविद त्रिकालदर्शी महात्माजन जिस मार्ग का अनुसरण करके, आत्मोन्नति सद्गति आदि प्राप्त किये हैं, वही कल्याण पथ है- ऐसा कहा गया है। **महाजनो येन गतः स पन्थाः** का यही भाव है । अतः कल्याण पथ को धर्म पथ भी कहा है ।

धर्म के विषय में कहा गया है कि - **"वेद विहितो धर्मः"** अर्थात् वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं , उसे धर्म कहते हैं । निवृत्ति लक्षण धर्म और प्रवृत्ति लक्षण धर्म ही वेद के प्रतिपाद्य हैं । निवृत्ति परायण मरीचि आदि सनकादि ऋषियों ने निवृत्ति लक्षण धर्म और मनु आदि ने प्रवृत्ति लक्षण धर्म का अनुसरण कर परम्परा को स्थापित किया । भगवान् कृष्ण भी गीता में कहते हैं कि -

इमं विवस्वते योगं, प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।

अर्थात् यह अविनाशी योग मैंने पूर्वकाल में सूर्य से, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वतनु से एवं मनु ने इक्ष्वाकु से, परम्परा से कहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि - परम्परा के कारण यह धर्म अर्थात् सनातन धर्म, जो कल्याण-पथ के रूप में प्रतिपाद्य है वह अविनाशी और अक्षुण बना हुआ है । पूर्वोक्त दो प्रकार की निष्ठाओं का

उल्लेख गीता में करके प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण धर्म शास्त्र विहित है इस बात की पुष्टि की गयी है । यथा -

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्मयोगेन योगिनाम् ।।

अर्थात् हे निष्पाप, इस लोक में पूर्वकाल में मेरे द्वारा दो प्रकार की निष्ठायें कही गयी हैं - निवृत्ति परायण ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग एवं प्रवृत्ति परायण कर्म योगियों के लिए निष्काम कर्म योग । इस प्रकार निवृत्ति लक्षण धर्म, निवृत्ति मार्ग के ज्ञानियों के लिए कहा गया है । जो विरक्त ज्ञानी पुरुष त्यागमय जीवन बिताते हुए भगवद्भजन करते हैं एवं आत्मानुसंधान रूप निदिध्यासन करते है, वे विरक्त ज्ञानी, ऊर्ध्व गति से ब्रह्म में तादात्म्य होकर मुक्त हो जाते हैं । इसी तरह प्रवृत्ति लक्षण धर्म, प्रवृत्ति मार्ग के, निष्काम कर्म योगियों के लिए कहा गया है । जो सद् गृहस्थ, कर्मयोगी पुरुष, निष्कामकर्म योग का अनुसरण करते हुए, सांसारिक प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रहते हैं; वे धर्मात्मा सद्पुरुष भगवद् कृपा स्वरूप, क्रमशः आत्मोन्नति द्वारा सद्गति प्राप्त करते हुए अन्तःकरण निर्मल होने पर आत्म साक्षात्कार के योग्य बनकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते व मुक्त हो जाते हैं ।

उपर्युक्त ये दो ही धर्ममय मार्गों का निष्ठा के नाम से प्रतिपादन किया गया है । निष्ठा का अर्थ है - अच्छी तरह से सोच विचार के साथ निश्चित किया गया- निर्णय अथवा मार्ग या पथ आदि ।

किसी विषय में जब सम्पूर्ण आस्था-विश्वास के साथ दृढ़ निश्चय पूर्वक आरूढ़ होते हैं ; तब उसे निष्ठा कहा जाता है । मार्ग या पथ पर भी प्रवृत्त होने के लिए किसी एक निश्चित दिशा में, निर्णयात्मक ढंग से आरूढ़ होना होता है । इसलिए द्विविधा निष्ठा का अभिप्राय निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग से लिया गया है ।

श्रीमद्भागवत पुराण में आया है कि मदालसा ने भी अपने पुत्रों

को "**शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि, निरञ्जनोऽसि, संसारमाया परिवर्जितोऽसि । संसार मायां त्यजमोह निद्रां** आदि कहकर निवृत्ति लक्षण धर्म का उपदेश किया एवं इसी प्रकार अपने अन्तिम पुत्र अलर्क को पति की इच्छा से प्रवृत्ति लक्षण धर्म का उपदेश किया था ।

यथा वर्णन है -

समीहितं बन्धुषुपूरयेथाः ।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथाः ।
मनः परस्त्रीषु निवर्त्तयेथाः ।।
सदामुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्तः षडरीञ्जयेथा ।
मायां प्रबोधेन निवारयेथा,
ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः ।।

इस प्रकार मानव कल्याण के उपर्युक्त दो पथों में से किसी एक का अनुसरण करनेसे व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष करते हुए मानव जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । ये दोनों ही शास्त्र विहित आश्रम धर्म हैं । वर्णाश्रम व्यवस्था के धर्मो को स्वधर्म कहा जाता है । वर्ण-आश्रम व्यवस्था एवं गुण स्वभाव और सामर्थ्य आदि को दृष्टिगत रखकर सभी के लिए कर्त्तव्य कर्म निश्चित किये गये हैं । क्योंकि इनसे निःश्रेयस अभ्युदय की सिद्धि होती है । अतः इन्हें स्वधर्म कहा गया है । स्वधर्म के अन्तर्गत साधारण धर्म, असाधारण धर्म सामान्य और विशेष धर्म आदि सभी धर्म आते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य कर्म स्वधर्म का अनुसंधान करके तत्परता से निष्ठा के साथ, उसका पालन करना चाहिए -

भगवान अकारणकरुण, करुणावरुणालय परब्रह्म परमात्मा धर्मस्वरूप हैं । अतः उनकी शरण ग्रहण कर उपासना-आराधना आदि करना भी आवश्यक है ।

मानव जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये हैं । कुछ लोगों ने पंचम पुरुषार्थ, भगवद्भक्ति द्वारा ईश्वर प्राप्ति को भी माना है । इनमें कुछ तो निष्काम भक्ति को ही पुरुषार्थ मानते हैं । जो भी हो किन्तु कहना होगा कि मानव जीवन का उद्देश्य पुरुषार्थ करना है और इन पाँचों पुरुषार्थों की प्राप्ति, धर्म से ही हो सकती है । इसके अतिरिक्त एक बात और भी गुह्य है कि भगवान् सदा धर्म के पक्ष में ही रहते हैं । अर्थात् भगवान हमेशा सत्य, न्याय और सदाचार का पालन करने वाले का साथ देते हैं

अतः उपर्युक्त सभी कारणों से स्वधर्म रूप धर्म का पालन किया जाना आवश्यक है । श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वधर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि -

''श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ,

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। अर्थात् स्वधर्म गुणरहित (सामान्य) होने पर भी, दूसरे के अच्छी तरह अनुष्ठित धर्म से श्रेष्ठ ही है । क्योंकि दूसरे धर्म अपने लिये भयावह है, याने किसी तरह की हानि पहुँचाने वाला है । क्योंकि मनुष्य को हानि-क्षति आदि का ही भय होता है इसलिये भयावह कहा है । अतः परधर्म (दूसरे के धर्म) का आश्रय न लेकर अपने धर्म का पालन करते मर जाना उचित है ।आचार्यों का भी कहना है कि किसी प्रकार का संकट आने पर भी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए । अपितु स्वधर्म पालन करना चाहिए । यह स्वधर्म ही ''सनातन धर्म'' है ।यह सनातन जीवों के कल्याण हेतु, सनातन से अर्थात् अनादि काल से परम्परागत संचलित रहकर अविनाशी और अक्षुण बना हुआ है ।

इसलिए ऐसे धर्म के तत्त्व को अच्छी तरह समझ कर पूर्वोक्त निष्ठा पूर्वक धर्म पालन करना चाहिए । चूंकि धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जो परलोक में साथ जाता है । अथवा यो कहें कि परलोक

में साथ देता है । नीतिकारों ने भी इस बात का समर्थन किया है एवं लोक में भी देखा व अनुभव किया जाता है । यथा-

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
नारि गृहद्वारि जनाः श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोक मार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।

अर्थात् मृत्यु के पश्चात् भौतिक सभी पदार्थ इस भूतल पर ही रह जाते हैं । मात्र धर्म ही जीव के साथ परलोक जाता है ।

भगवद्भजन एवं धर्माचरण करके, मनुष्य दुःख रूप संसार सागर से पार हो सकता है । इस प्रकार व्यक्ति निष्काम कर्म योग के रूप में कर्त्तव्य कर्म (स्वधर्मपालन) करके अपनी करनी सुधार सकता है।

शास्त्रार्थ महारथी शास्त्रज्ञ विद्वान् कुमारिल भट्ट का कहना है कि -"परलोक है अथवा नहीं है ? ऐसा संशय (संदेह) होने पर भी पुण्यकर्म अर्थात् धर्मपालन करना चाहिए । यथा -

संदिग्धे परलोकेऽपि, कर्त्तव्यः पुण्य सञ्चयः ।
नास्तिचेन्नास्ति नो हानिः, अस्तिचेत्तर्हि को हतः।।

अर्थात् परलोके संदिग्धेऽपि पुण्य सञ्चयः कर्त्तव्यः । क्योंकि ऐसा करने (पुण्य कर्म करने) से कोई हानि नहीं होती है ।

अभिप्राय यह है कि धर्माचरण हर स्थिति में करना चाहिए । महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर जी को उपदेशान्तर्गत कहा है कि -

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।।

अर्थात् समस्त धर्म का सर्व-सार जो आचरणीय है । वह है - जो स्वतः के लिए अनुकूल नहीं है वह दूसरे के लिए व्यवहार में नहीं लाना चाहिए ।

पुस्तक में उल्लिखित सम्पूर्ण विवेच्य का अभिप्राय यह है कि

अभी तक ज्ञात-अज्ञात में अथवा भूल से जो कुछ भी पाप कर्म हो चुके हैं उनसे भयभीत न होवे, अपितु उनका पश्चात्ताप पूर्वक प्रायश्चित्त करके मन में संकल्प करे कि अब से कोई अशुभ, असद्, निन्दित या निषिद्ध अथवा शास्त्र अविहित अर्थात् अधर्म के कर्म नहीं करेगा। बल्कि निष्काम कर्म योग के द्वारा स्वधर्म का पालन करेगा । अर्थात् धर्माचरण का अनुष्ठान करेगा । इसका अर्थ है **''रोटी जली सो जली, पर अब और न जलने पाये ।''**

अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य शरीर हमें प्राप्त हुआ है । इसका सदुपयोग यह है कि हम भगवद्भक्ति द्वारा ईश्वराधन, नामजप, नामकीर्तन व ध्यान आदि के साथ कल्याण पथ पर अग्रसर होवें । सगुण ब्रह्म (परम ब्रह्म परमात्मा) भगवान श्रीराम का नाम अनेक सद्गुणों का धाम है एवं मुमुक्षुओं के लिए पाथेय व धर्म वृक्ष को ऊगाने के लिए धर्म बीज के समान है । समस्त भूत प्राणियों का कल्याणाधार है। इसलिए रामनाम का स्मरण करना चाहिए । यथा-

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानाम्।
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां ।
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ।।

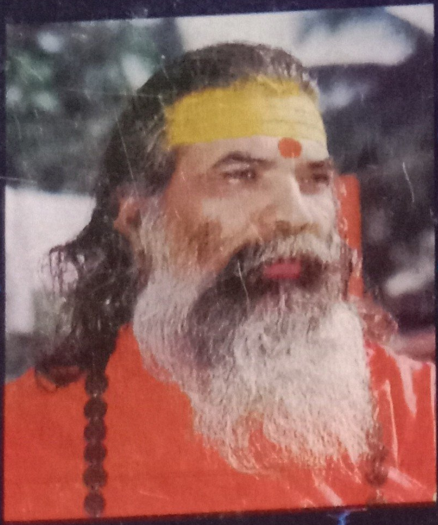
भावार्थ यह है कि भगवान् श्रीराम का नाम कल्याण का धाम है अर्थात् अनेक विध कल्याण करने वाला है । कलियुग के पापों का विनाश करने वाला है । यह पवित्रों को भी पवित्र करने वाला है । मोक्ष पथ के पथिकों के लिए पाथेय है और परम पद प्राप्ति का एक मात्र स्थान है । विश्रान्ति का भी एक मात्र स्थान है । श्रेष्ठ कवियों की (वाणी का विलास) वाणी है और सज्जनों का तो जीवन धन है; तथा समस्त भूत प्राणियों में, धर्मवृक्ष को उत्पन्न करने के लिए रामनाम धर्म बीज है ।

इस प्रकार परम ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्री राम का नाम धर्मप्रद एवं सर्वविध कल्याण प्रदान करने वाला है । जिसको जानकर मनुष्य मृत्यु से पार हो जाता है अर्थात् अमर हो जाता है । समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त कल्याण का और कोई मार्ग अथवा पथ नहीं है । यथा वेद में वर्णन है -

वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्त्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय ।।

(शुक्ल यजुर्वेद)

।। शम् इति ।।



प्रस्तुत ग्रन्थ 'कर्मों के परिणाम' के रचयिता **ब्रह्मचारी श्री प्रकाशानन्द जी** का जन्म भाद्रपद कृष्ण चतुर्दशी सं. २००८ वि. तदनुसार दिनाङ्क ३१ अगस्त १९५१ ई. को उपमन्यु गोत्रीय पिता पं. गणेश प्रसाद जी दुबे तथा माता श्रीमती प्रेमाबाई से मध्य प्रदेश के सिवनी जिले के कमकासुर नामक ग्राम में हुआ।

आपका पूर्वनाम पं. मथुराप्रसाद दुबे था। आप बी.एस.सी. तक अध्ययन कर उसी जिले के विद्यालय में प्रवक्ता हुए। परन्तु पूर्व संस्कारों का उदय होते ही पूज्यपाद ज्योतिष्पीठाधीश्वर एवं द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्री स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज जैसे सद्गुरु के सान्निध्य में आए और सब कुछ छोड़ मई १९७९ में महाराजश्री से दीक्षित हुए।

पूज्य शङ्कराचार्य जी द्वारा स्थापित गुजरात के प्रसिद्ध तीर्थस्थल शङ्कराचार्य नगर सहित पूज्य महाराजश्री की संस्थाओं के संचालन में आप संलग्न हैं। प्रस्तुत कृति भी पूज्य शङ्कराचार्य जी के आदेश का ही **परिणाम** है।

-सम्पादक